

पर दशकों पूर्व ही रखे जा सकते थे. ...अर्थ प्रधान समाज में क्या गारंटी है कि ...विष्य में लारकिंस-बंधु न आ पायेंगे और न सांबा कांड की ...रावृत्ति ही होगी? इतना निर्विवाद है कि ऐसी घटनाओं के प्रकाशन ... कम-से-कम हमारे सरकारी तंत्र को सक्रिय होने की दिशा में ...त्साहन अवश्य मिलेगा.

☐ सु. चं. मिश्र, केंद्रीय विद्यालय, आयुध निर्माणी, भंडारा.

...मृत रस बरसै

...३ और २० मई के अंकों में प्रकाशित अमृतलाल नागर जी के ...सान्निध्य में, उनकी स्मृतियों में बरसनेवाली रस की बौछारें मन को ...गो गयीं.

ये बौछारें शोध-छात्रों के लिए अत्यंत उपयोगी हैं. साथ ही ...कालीन परिवेश के सामाजिक यथार्थ, स्वयं नागरजी के जीवन के ...नजाने रोचक प्रसंग, नेहरू जी के जीवन से संबद्ध अनछुए, दुर्लभ ...थ्यों की रोचक और चित्रात्मक प्रस्तुति इन बौछारों को और भी ...ानंददायक, प्रेरणादायक और संग्रहणीय बना गयी है. पद्मा सचदेव ...ो बधाई.

☐ कमल डोंगरे, ४८४, गांधी नगर, इटारसी.

...क प्रश्नाकुल दुनिया में गांधी की वापसी

'एक प्रश्नाकुल दुनिया में गांधी की वापसी' में लेखक नंद चतुर्वेदी ने गणेश मंत्री के जिस विचार—'एशियाई देशों की वास्तविकता ...पूंजी की कमी, श्रम की बहुतायत और शोषण के लिए उपनिवेशों ...ा अभाव'— से अपनी सहमति व्यक्त की है, उससे मैं भी पूर्णतया ...हमत हूं. यह तो उपर्युक्त तथ्य से ही स्पष्ट है कि भारत की स्थिति ...रोपीय देशों के बिलकुल प्रतिकूल है, फिर भी उद्योगों को अधिकाधिक ...शीनों पर आधारित करने के परिणामस्वरूप श्रम-शक्ति का उपयोग ...म हो रहा है, जिससे बेकारी दिनानुदिन बढ़ती जा रही है.

है कि खेलों के हरे-भरे मैदान को राजनीति रूपी रेत ने रेगिस्तान बना दिया है. ओलिंपिक में हॉकी का सत्यानाश भारतीय राजनीति की प्रमुख देन है.

☐ अशोक गर्ग, १९ कोठारी मार्केट, दो बत्ती, रतलाम.

फिल्म बनाम क्रिकेट : एक नया विवाद

३ जून के अंक में 'फिल्म बनाम क्रिकेट: एक नया विवाद' में सुनील गावसकर की टिप्पणी पर जानकीदास की आलोचना पढ़ी और उचित लगी, पर उन्होंने क्रिकेट की आलोचना की, उससे धक्का लगा.

हर खेल का अपना अलग महत्व होता है. इन्हीं खेलों की वजह से दूसरे देशों से हमारे संबंध बरकरार रहते हैं. जानकीदास ने यह भी लिखा कि भारत की आबादी के आधार पर हमें ओलिंपिक में १०० पदक मिलना चाहिए. यह एक हास्यास्पद बात है, क्योंकि किसी भी देश को उसके कौशल के आधार पर पदक मिलते हैं, न कि आबादी

बधाई



कन्नड के साहित्यकार सी.के. नागराजराव के उपन्यास पट्ट महादेवी शांतला को ११ हजार रुपये के मूर्तिदेवी साहित्य पुरस्कार से पुरस्कृत किया जा रहा है. भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा संस्थापित इस साहित्य पुरस्कार योजना का यह पहला पुरस्कार है. इससे पहले यह उपन्यास कर्नाटक की साहित्य अकादेमी द्वारा भी पुरस्कृत किया जा चुका है.

सी.के. नागराजराव कन्नड रंगमंच के एक कुशल अदाकार और निर्देशक हैं और कन्नड फिल्मों के सफल पटकथाकार भी. उनके अब

...कविता-कहानी लेखन, छपवाने लग गयीं ... अपने महाविद्यालय में सर्वोच्च अंक प्राप्त कर ...हिंदी... गयी थी. पर, पूछिए जरा उससे, क्या कभी ऐसा लगा... पंजाबी और पंजाबियत से भरे उस इलाके में, अपने से ... को हिंदी पढ़ाते समय, या उस अपरिचित नगर में नितांत... हुए उसे कभी किसी डर, शंका, निरादर या अपमान का सा... पड़ा? कतई नहीं. सदा हिंदी के प्रति एक श्रद्धा व आदर ... देखने को मिला और पढ़ाने में भी पूर्ण सहयोग! आज हिं... के इतने वर्षों के बाद भी उस लड़की के प्रारंभिक अध्यापन ... याद करती हूं तो सोचती हूं कि वे उसके हिंदी शिक्षण के ... थे— पढ़नेवालों में और पढ़ानेवालों में भी वह लगन औ... आज इस हिंदीभाषी क्षेत्र में भी मुझे कभी नहीं मिली...

क्या भाषा कभी वैमनस्य सिखाती है? इतिहास में ढूंढ ... कहीं ऐसा उदाहरण नहीं! मैं किसे अपनी भाषा कहूं, मैंने ... सोचा. मैं हिंदी में लिखती हूं, हिंदी पढ़ाती हूं, हिंदी, अं... पंजाबी का ढेर-सा साहित्य निरंतर पढ़ती हूं. मेरी मां और सा... बोलती हैं, मेरे पति भी पंजाबी बोलते हैं और बच्चे हिंदी-अं... मिश्रण! पर, हमारी ये भाषाएं आपस में कभी टकरायी ना... मनमुटाव का कारण नहीं बनीं.

अमृता प्रीतम ने अपनी प्रसिद्धि के प्रथम दौर में ... विभाजन के समय औरतों की दुर्गति देख आंसू बहाये थे— ... आखां वारिसशाह नूं, किते कबरां विच्चों बोल'...हीर के ... वारिसशाह को पंजाब की औरतों की दशा दिखाने वे कब्र ... बुलाने को तत्पर थीं और अब जो पंजाब में सैक... निर्दोष जानें आतंकवादियों द्वारा ली गयीं, उनकी औरतों-ब... की चीत्कार सुन कर क्या उस भावुक कवयित्री की 'जिंद... रूह में कोई झनझनाहट उत्पन्न नहीं हुई? वे अपने तिलिस्मी ... से उन लड़ाकुओं को क्यों नहीं समझातीं कि ...

न्यायरत्नावली ।

त्तिर्मनस आत्मप्रतिबिम्बवत्त्वे मानमित्यस्योक्तत्वात्कथं पुनर्मानप्रश्न इति चेत्, उच्यते। प्रमिणोमीत्यादिप्रत्यये प्रमातादात्म्यमेव भाति, न तु प्रमाश्रयत्वम्। भातु वा तदेव, तथापि प्रमाया अज्ञातविषयकज्ञानरूपत्वात् ज्ञानस्य चासत्त्वापादकाज्ञानविषयत्वाभावप्रयोजकविशिष्टचिद्रूपत्वात्तादृशचिद्रूपस्यैव ब्रह्मणीव मनस्यप्याश्रयत्वं कल्पितं स्वीक्रियते । अत एव 'आनन्दो विषयानुभवः नित्यत्वं चेति सन्ति धर्मा अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवावभासन्त' इत्यादिपञ्चपाद्युक्त्या निर्धर्मकब्रह्मणो धर्मो देहादौ कथमध्यस्यत इति पूर्वपक्षस्समाहितः। तथा च तत एव 'ब्रह्मणि ज्ञान'मितिवत् 'मयि ज्ञानम्, अहं ज्ञानवा'निति व्यवहारः। न च अहं जानामीतिवद्घटो जानाती'ति व्यवहारः स्यादिति वाच्यम्। (१)उक्ताज्ञानविरोधिविशिष्टचिद्रूपज्ञानस्य ब्रह्मधर्मस्य देहमनसोरेव संसर्गाध्यासात् पूर्वपूर्वतदध्याससंस्काररूपकारणस्य तयोरेव सम्भवेन तयोरेव तदध्यासस्वीकारादुक्तज्ञानसमानाधिकरणतदनुकूलव्यापारविशेषस्यैवोक्तव्यवहारविषयत्वेन तस्य घटादावसत्त्वात् । तथा (२)चासत्त्वापादकाज्ञानविरोधिविशिष्टरूपेण चितो मनआश्रितत्वस्वीकारेऽपि साक्षिणो मनस्यन्तर्गतत्वरूपप्रतिबिम्बितत्वे न मानम् । अत एव वाचस्पतिमते तन्न स्वीक्रियत इति श्रुतेरेव तत्र मानतां वक्तुं किं प्रमाणमिति प्रश्नोपन्यासः । रूपमिति । रूप्यते अहमिति धिया व्यवह्रियते आत्मा येन मनसा तत् (३)रूपम्, रूपं रूपं प्रति प्रतिरूपः । प्रतिबिम्बशब्दस्येव बिम्बस्वरूपार्थकरूपपदान्तकस्य प्रतिरूपशब्दस्यापि प्रतिबिम्बार्थकत्वात्। 'स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशदि'ति पूर्ववाक्येन मनोरूपासु पूर्षु तदन्तर्गतत्वरूपस्य प्रवेशस्योक्तत्वात्तदुक्त-

(१) उक्तरूपज्ञानस्य ब्रह्मधर्मस्य देहमनसोरेव संसर्गाध्यासात् संस्काररूपकारणस्यानयोरेव सम्भवेन इत्यादिः घपुस्तके । (२) तथाचोक्तज्ञानत्वविशिष्टरूपेणेति घपुस्तके ।

(३)—तत् रूपं रूपं प्रतिरूपः इति सर्वत्र सङ्कुचितः पाठः युक्तत्वादत्र वर्धितोऽस्माभिः।

तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय, मायाभासेन जीवेशौ करोती'-त्यादिश्रुतिः 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदि'ति

न्यायरत्नावली ।

रेण 'तदेतदृषिः पश्यन्नवोचद् रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवे'तिवाक्येनो-क्तप्रवेशस्यैवोक्तेर्युक्तत्वात्। तदिति । प्रतिविम्बात्मकमित्यर्थः । प्र-तिचक्षणाय—अहमित्यादिव्यवहाराय । माया—अविद्या, आभा-सेन-स्वगतप्रतिविम्बेन, जीवेशौ-प्रतिविम्बविम्बरूपौ, करोति-सर्वान्प्रति व्यवहारयति । जीवविषयकव्यवहारस्याभासप्रयुक्तत्वं स्फुटमेव । ईशविषयकस्यापि व्यवहारस्य तदस्त्येव । (१)जीवत्वो-पहितचिद्रूपस्य आभासप्रयुक्तत्वेन ईशप्रयुक्तस्येशविषयकव्यवहार-स्येशद्वारा आभासप्रयुक्तत्वसम्भवात् । इत्यादिश्रुतिरित्यादिपदेन—

यथा ह्येको ज्योतिरात्मा विवस्वा-
नपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् ।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो
देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ॥

इत्यादिश्रुतयो ग्राह्याः । एकधेत्यादि । परमार्थत एकरूप एवा-त्मा, तथाप्युपाधिप्रतिबिम्बितबहुप्रकारैर्दृश्यते प्रतीयते, जलप्रति-बिम्बितनानाप्रकारैश्चन्द्र इवेत्यर्थः ।

नारायणी ।

धिया व्यवह्रियते येनान्तःकरणेन तद्रूपम् , रूपं रूपं प्रत्यन्तःकरणं प्रतिरू-पः प्रतिबिम्बरूपः,तद्रूपं प्रतिबिम्बात्मकम् अस्य परमात्मनः प्रतिचक्षणाय अहमिति व्यवहाराय । श्रुत्यन्तरम्-जीवेशाविति । आभासेन-स्वगत-प्रतिबिम्बेन, करोति-सर्वान्प्रति व्यवहारयति । इत्यादिश्रुतिः-साक्षात्प्र-तिबिम्बार्थकश्रुतिः । आदिना—

यथा ह्येको ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् ।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेव मजोयमात्मा ॥

इत्यादिपरिग्रहः । एकधा-एकप्रकारः, बहुधा-बहुप्रकारः, दृश्यते-

(१) बिम्बत्वोपहितचिद्रूपस्येशस्याभासेत्यादिः घपुस्तके ।

स्मृतिः। 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत, तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविश'-दित्यादिप्रवेशश्रुत्यर्थापत्तिः, 'आभास एव च, अत एव

न्यायरत्नावली।

एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।

इति पूर्वार्धम्। तदित्यादि। तत् जगत् सृष्ट्वा ब्रह्म तदेव जगत् अनुप्राविशदित्यर्थः। यद्यप्यविद्यायां मनसि च प्रतिबिम्बरूपः प्रवेशः, न तु शरीरघटादौ;(१) तथाप्यविद्यामनस्तद्वृत्तिद्वारा सर्वत्र दृश्ये प्रवेशः। अतीन्द्रियार्थेष्वपीश्वरीयमायावृत्तिविशिष्टरूपेषु प्रतिबिम्बत्वरूपप्रवेश इति बोध्यम्। न चैवमीश्वरीयमायावृत्तिद्वारैव सर्वत्र प्रवेशसम्भवात् मनस्तद्वृत्तिषु प्रवेशस्य प्रकृतश्रुतिबोध्यत्वे मानाभाव इति वाच्यम्। 'रूपं रूप' मित्यादिश्रुत्या–

पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः।
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्॥

इत्यादिपूर्विकया मनःप्रवेशस्यैव प्रतीतेः। 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्य' इत्यादिपूर्विकया 'प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन्वागि' त्यादिश्रुत्या च तथैव प्रतीतेः। श्रुत्यर्थापत्तिः–श्रुतेर-

नारायणी।

प्रतीयते। उपाधौ प्रतिबिम्बितः सन्निति शेषः। दृष्टान्तमाह–जलचन्द्रवदिति। यथा वस्तुत एक एव चन्द्र उपाधौ प्रतिबिम्बितः सन्नानाकार उपलभ्यते। 'एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित' इति पूर्वार्धम्। श्रुत्यन्तरमाह–स एष इति। स एषः परमात्मा इह–ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु देहेषु प्रविष्टः–प्रतिबिम्बीभूतः। स एष इति सामानाधिकरण्याज्जीवात्मना प्रविष्ट इति लभ्यते। आनखाग्रेभ्यः–नखाग्रं मर्यादीकृत्य। सकलदेहावच्छेदेनैवाहमित्यभिमानादित्थमुक्तम्। श्रुत्यन्तरमाह–तदिति। तदाकाशादिकार्यम्, सृष्ट्वा–उत्पाद्य, तदेव–आकाशादिकार्यमेव, अनुप्राविशत्–तदन्तर्गतत्वेनाभिव्यक्तो बभूव। प्रवेशश्रुत्यर्थापत्तिः––प्रवेशश्रुतेरन्यथानुपपन्नत्वधीः। साव-

(१) न तु शरीरघटादाविति। तेषां स्वच्छत्वाभावेनेति भावः।

चोपमा सूर्यकादिव'दित्यादिसूत्राणि च तत्र तत्र मा-

न्यायरत्नावली ।

न्यथानुपपन्नत्वधीः । प्रवेशबोधनमात्रेण न मनसि प्रतिबिम्बलाभः, अधिष्ठानतयापि प्रवेशसम्भवात् ; परन्तु घटादावप्यधिष्ठानतया प्रवेशसम्भवान्नखाग्रपर्यन्तप्रवेशस्य मनस्येवोक्तेः प्रतिबिम्बत्वरूप-मनोन्तर्गतत्वरूपप्रवेशविशेषतात्पर्यकत्वं विनाऽनुपपन्नत्वग्रहाल्लक्षण-या तादृशप्रवेशबोधनमिति भावः । 'आभास एव चे'त्यस्य द्विती-याध्यायतृतीयपादस्थसूत्रस्यायमर्थो भाष्योक्तः-'आभास एव च एष जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः न स एव साक्षात् । नापि वस्त्वन्तरम् । ततश्च यथा नैकस्मिन् जलसूर्यके कम्पमाने जलसूर्यकान्तरं कम्पते एवमेकैकस्मिन् जीवे कर्मफलस-म्बन्धिनि जीवान्तरस्य न तत्फलसम्बन्ध' इति । 'अत एव चोप-मा सूर्यकादिवदि'ति तृतीयाध्यायाद्द्वितीयपादस्थसूत्रस्यायं भा-ष्योक्तार्थः-'यत एकोयमात्मा निर्विशेषचिद्रूपो 'नेति नेती'त्यादि-श्रुतिप्रमितः, अत एवापारमार्थिकीं विशेषवत्तामभिप्रेत्य जलप्रति-बिम्बितसूर्यवदित्युपमोपादीयते 'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विव-स्वानि'त्यादिवाक्येष्विति । इत्यादीत्यादिपदेन 'अम्बुवदग्रहणा-

नारायणी ।

काशद्रव्यान्तर्नयनरूपस्य प्रवेशशब्दार्थस्य निरवयवेऽसम्भवात् । प्रवेशपद-स्य प्रतिबिम्बपरत्वमेवाद्रियत इति भावः।नायं श्रुत्यर्थः स्वकल्पितः किन्तु भगवद्बादरायणसंमत इति ज्ञापयितुं सूत्राण्युदाहरति-आभास एव चेत्यादि । अयमर्थः । आभास एवायं जीवः परमात्मनोऽवगन्तव्यो न स एव नापि वस्त्वन्तरम्, यथा जलसूर्यः-सूर्यप्रतिबिम्बः । सूत्रान्तरमुदाहरति-अत एवेति। यतोयमात्मा निर्विशेषः श्रुतिषु प्रमितः-अतएव सूर्यकादिवत्-सूर्यप्रतिबिम्ब-वत्, उपमा 'यथा ज्योतिरात्मे'त्याद्युपमा भवतीत्यर्थः । तत्रेवात्रापि बिम्ब-प्रतिबिम्बयोरभेद इति भावः । नन्वात्मनः प्रतिबिम्बः सत्यो मिथ्या वा ? नाद्यः । प्रतिबिम्बस्य सत्यत्वानुपपत्तेः । नान्त्यः । मोक्षभागित्वानुपपत्तेरि-त्याशङ्क्य सिद्धान्ते मोक्षभागितायाः शुद्ध एव व्यवस्थापयिष्यमाणत्वा-

नानि। तस्य च प्रतिबिम्बस्य सत्यत्वमेवेति प्रतिबिम्ब-

न्यायरत्नावली।

त्तु न तथात्वम्, वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्, दर्शनाच्चे' ति सूत्राणि गृह्यन्ते। मूर्तसूर्यदेशापेक्षया दूरदेशस्थत्वं सूर्यप्रतिबिम्बोपाधेरम्बुनो गृहीतम्, तथा (१)मूर्तात्मदेशापेक्षया दूरदेशस्थत्वं च मनसो न दृष्टम्। अतो नात्मनो मनसि प्रतिबिम्बोदयः। उपमावाक्यं तु वृद्धिह्रासभाक्त्वं यथा जलगतसूर्यके प्रतीयते, तथा मनोगतमात्मनीति बोधयति, (२)न तु यथा जले सूर्यस्यान्तर्भावः सूर्यप्रतिबिम्बत्वम्, तथा मनस्यात्मन इत्याद्यसूत्रार्थः। 'अहं सुखी दुःखी'त्यादिप्रत्ययेष्वात्मनोन्तर्भावरूपं प्रतिबिम्बत्वमादायैव वृद्धिह्रासभाक्त्वमेव पूर्वोक्तोपमावाक्येन बोध्यते, न त्वन्तर्भावं त्यक्त्वा, उभयोर्विप्रकृष्टमूर्तप्रतिबिम्बस्य सन्निकृष्टामूर्तप्रतिबिम्बस्य च सामञ्जस्यादुपपन्नत्वात्, सन्निकृष्टामूर्ताकाशादेर्जलादाविव तादृशात्मनोऽपि अहङ्कारप्रत्ययेन मनस्यन्तर्भावासिद्धिः भ्रमहेतूनां नानाविधानामनुभवबलेन कल्पनादिति द्वितीयसूत्रार्थः। 'स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविश'दित्यादिश्रुत्या आत्मनो मनोन्तर्भावोक्तिदर्शनाच्चोक्तार्थः प्रामाणिक इति तृतीयसूत्रार्थः। ननु (३)'प्रतिबिम्बस्योपाध्यन्तर्गतत्वाविशिष्टबिम्बरूपत्व'मिति विवरणकारादिमते मनःप्रतिबिम्बस्वरूपस्य चिद्रूपत्वादहमित्याकारधीविषयत्वं युक्तम्, 'तद्धियश्चेतनविषयकत्वात्प्रतिबिम्बस्वरूपमुपाध्यन्तर्गतमारोपितं मिथ्ये'ति वार्तिककारादिमते तु तस्य कथमहमित्याकारधीविषयत्वं तत्राह—तस्येत्यादि।

नारायणी।

त्प्रकृते तच्चिन्तनमनतिप्रयोजनकमित्यभिप्रायेणोपेक्षते—तस्येति। प्रतिबिम्ब-

(१) तथा मूर्तत्वमात्मनः आत्मदेशापेक्षयेत्यादिः घपुस्तके।

(२) न तथात्वं यथा जले सूर्यस्यान्तर्भावरूपप्रतिबिम्बत्वमित्यादिः घपुस्तके।

(३) 'प्रतिबिम्बरूपं सत्यमिति' इति घपुस्तके।

वादिनः । मिथ्यात्वमेवेत्याभासवादिनः । स्वरूपे तु न विवाद एवेत्यन्यदेतत् । अचेतनाविलक्षणत्वन्तु श्रुतिसिद्धम् अनुभवसिद्धं च तस्मात्सिद्धमन्तःकरणस्य प्रतिबिम्बाध्यासद्वारा प्रमातृत्वम् । ननु अध्यासोऽपि नोपपद्यते ।

न्यायरत्नावली ।

श्रुतिसिद्धमिति । 'तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय' इत्यादिश्रुतिसिद्धमित्यर्थः । मिथ्यात्वपक्षेऽपि तस्याधिष्ठानीभूतचित्तादात्म्याध्यासाच्चेतनत्वमिति भावः । अनुभवसिद्धम्—अहं चेतन इत्याद्यनुभवसिद्धम् । एवं च मनसि चित्प्रतिबिम्बे श्रुत्यादिसिद्धे तत एव प्रमाश्रयत्वं तत्रोपपादनीयम् । प्रेमास्पदत्वनित्यत्वादेर्ब्रह्मधर्मस्य दृश्यमात्रे संसर्गाध्यासस्वीकारेऽपि देहमनसोरेव ज्ञानरूपब्रह्मधर्मसंसर्गाध्यास इति कल्पने मानाभावात् । वाचस्पतिमते त्वमूर्तस्य प्रतिबिम्बास्वीकारेऽपि स प्रामाणिक इत्याशयेनाह—तस्मादिति । चित्प्रतिबिम्बस्य प्रामाणिकत्वादित्यर्थः । प्रतिबिम्बेति । अविद्योपहितचित्प्रतिबिम्बेत्यर्थः । प्रमातृत्वं—प्रमाश्रयत्वम् । नन्वध्यासोऽपीत्यादि । मनसः प्रमातृत्वानुपपत्तिश्चि-

नारायणी ।

स्य सत्यत्वं-बिम्बात्मतामादायाबाधितत्वम्, अनिर्वचनीयख्यात्यनुरोधेनातिरेकमादाय शुक्तिरजतादिवत्कल्पितत्वम् । अन्यदेतत्-विचारान्तरम्, प्रकृतविचारानर्हं तत्र शङ्काया अग्रे व्यवस्थापयिष्यमाणत्वादिति भावः । सत्यत्वमिथ्यात्वयोर्यदि न निर्णयस्तदेदंरूपात्सम्प्रतिपन्नप्रतिबिम्बाद्वैलक्षण्यसिद्धिः कथं ? तत्राह-अचेतनेति । अचेतनात् इदंरूपात् सुखादिप्रतिबिम्बात् विलक्षणत्वं-चित्स्वरूपत्वं श्रुतिसिद्धं-'योयं विज्ञानमय' इत्यादिश्रुतिसिद्धम् । श्रुतेस्तत्परत्वे विवदमानं प्रत्याह-अनुभवेति । अहं चेतन इति प्रतीतिसिद्धमित्यर्थः । उपसंहरति-तस्मादिति । चित्प्रतिबिम्बस्य चेतनत्वादिना प्रामाणिकत्वादित्यर्थः । प्रतिबिम्बाध्यासद्वारा-प्रतिबिम्बतादात्म्याध्यासद्वारा, प्रमातृत्वं-प्रमातृरूपता । अध्यासमूलकं प्रमातृत्वमुक्तम्, अध्यास एव तु कथं क्लृप्तसामग्र्यभावादित्यभिप्रेत्याक्षिपति-नन्विति । अपिशब्दादध्यासमूलकप्रमातृत्वासम्भवं समर्थयिष्यन्नादौ विकल्पयति-

तथा हि—आत्मनि वाऽनात्मा अध्यस्यते अनात्मनि वा आत्मा ? नाद्यः । तस्य निस्सामान्यविशेषत्वेन सर्वदा भासमानत्वेन सादृश्यादिरहितत्वेन चाधिष्ठानत्वासम्भवात् । नापि द्वितीयः । तस्य मिथ्यात्वाभ्युपगमात् ।

न्यायरत्नावली ।

त्प्रतिबिम्बाध्यासेन निरासो न युक्तः, अध्यासस्यात्मन्यनुपपत्तेरित्यर्थः । निस्सामान्येत्यादि । आत्मनः स्वप्रकाशत्वेन सदा भानात्सादृश्यादिदोषहीनत्वाच्च नाधिष्ठानता । अज्ञातं हि दोषसंसृष्टमधिष्ठानं भवति । ननु चिद्रूपेणात्मा स्वप्रकाशः न तु पूर्णानन्दरूपेण, तथा चेदन्त्वेन ज्ञातापि शुक्तित्वेनाज्ञाता शुक्तिरिव सोऽधिष्ठानं स्यात् अत उक्तं-निस्सामान्यविशेषत्वेनेति । चिद्रूपः सामान्यांशः धर्मिणि भासमानत्वात् । पूर्णानन्दस्तु विशेषांश इति विभागस्याप्यध्यासत्वेन अध्याससामान्यम्प्रति न तस्योपपादकतेति भावः । तस्य—अनात्मनः । मिथ्यात्वाभ्यु-

नारायणी ।

तथाहीति । अध्यासे ज्ञातसामान्यधर्मवत्त्वम्-अज्ञातविशेषवत्त्वम् अधिष्ठानावरणम् आरोप्याधिष्ठानयोः सादृश्यम्, अधिष्ठानारोप्ययोर्भेदाग्रहश्च (१)दोषसामग्री, न चैते निर्धर्मके आत्मनि सन्ति अतो नाध्याससम्भव इत्याशयेनाह--निःसामान्येति । अधिष्ठानत्वासम्भवादित्यत्रान्वेति । निर्गतौ सामान्यविशेषौ यस्मात्स निःसामान्यविशेषस्तस्य भावस्तत्त्वम्, सत्त्वपरिपूर्णानन्दत्वादिसामान्यविशेषधर्मरहितत्वं तेनेत्यर्थः । सत्त्वं--सामान्यधर्मः, परिपूर्णानन्दत्वं--विशेषधर्म इत्यादि सामान्यविशेषभावस्याप्याध्यासिकत्वादिति भावः । सर्वदा भासमानत्वेन-वृत्तितदभावकालेऽपि स्वतः स्फूर्तिमत्त्वेन, निर्धर्मकत्वमेव सादृश्याभावे आदिपदोक्तदोषाभावे च हेतुर्बोध्यः, अधिष्ठानत्वासम्भवात्—अध्यासकारणीभूताज्ञानविषयत्वासम्भवात् । तस्य—अनात्मनः । मिथ्या-

(१) सादृश्यादीति मूलस्थेनादिपदेनोपात्तेषु अध्याससामग्रीघटकेषु दोषसामग्रीत्वमुक्तं टीकाकृता तन्मन्दम् । अपि तु दोषोऽप्यध्याससामग्रीत्वेनैव निर्वाच्यः तथैव सर्वत्र स्वीकारादिति ।

मिथ्यावस्तुनोऽधिष्ठानत्वे शून्यवादप्रसङ्गात्। तस्य च सत्यत्वे तदनिवृत्तेरनिर्मोक्षप्रसङ्गाच्च। न हि सत्यं क्वचिन्निवर्तते निवर्त्यमानं वा ज्ञानेन। श्रुतयश्च-'भिद्यते हृद-

न्यायरत्नावली।

पगमात्-सिद्धान्तिना स्वरूपतो मिथ्यात्वस्वीकारात्। मिथ्यावस्तुनः—मिथ्यास्वरूपस्य। शून्यवादप्रसङ्गात्-शून्यवादिनं प्रत्यापादितदोषप्रसङ्गात्+(१)सर्वस्य मिथ्यात्वे हि ज्ञानानां बाध्यबाधकत्वव्यवस्था न स्यात्+प्रमयैव भ्रमो बाध्यते। शून्यवादे च सर्वस्य मिथ्यात्वात् न प्रमास्तीति बाध्यबाधकभावो न क्वापीति दोष आपादितः। तस्य-अनात्मनः। अनिर्मोक्षेति। निश्शेषसंसारोच्छेदाभावेत्यर्थः। निवर्तते-उच्छिन्नं भवति। ननु प्रपञ्चसत्यतामते घटादिकं दण्डादिप्रहारेणोच्छिद्यत एव तत्राह-निवर्त्यमानमिति। उच्छिद्यमानमित्यर्थः। सत्यमित्यनुषज्यते। तथा च सत्यं यत् तत् ज्ञानोच्छेद्यं न भवतीत्यर्थः। ननु सेतुदर्शना-

नारायणी।

त्वेति। स्वरूपतो बाधितत्वरूपमिथ्यात्वस्वीकारादित्यर्थः। ननु वस्तुगत्या बाधितस्यैव शुक्त्यादिवदधिष्ठानत्वमस्तु तत्राह--मिथ्यावस्तुन इति। बाधितवस्तुन इत्यर्थः। अधिष्ठानत्वे च-आत्माध्यासाधिष्ठानत्वे तु, शून्यवादप्रसङ्गात्-सर्वमिथ्यात्ववादप्रसङ्गात्। अध्यस्ताधिष्ठानयोर्द्वयोरपि मिथ्यात्वप्राप्तेरिति भावः। ननु मिथ्यात्वमनात्मनोऽसम्प्रतिपन्नमतो न दोषस्तत्राह--तस्येति। तस्य-अनात्मनः। चस्त्वर्थो विभिन्नक्रमः सत्यत्वे त्वित्यर्थः। तदनिवृत्तेः-तस्य अनात्मनः अनिवृत्तेः--अबाधात्, अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्--परिपूर्णानन्दस्वरूपात्मनाऽनवस्थितिप्रसङ्गात्। मिथ्यावस्त्वेव बाध्यमित्यत्र युक्तिमाह--नहीति। सत्यं-परमार्थसद्रूपं त्रिकालाबाध्यम्, निवर्तते--बाधितं भवति। अबाध्यस्य बाध्यत्वायोगादिति भावः। ननु वर्तमानकालेऽबाधात्त्रैकालिकबाधविधुरत्वे घटादेर्मुद्गरप्रहारादिना पापादेः प्रायश्चित्तज्ञानादिना नाशदर्शनात् कथं सत्यं न निवर्तते—तत्राह निवर्त्यमानं वेति। नश्यमानं चेत्यर्थः। ज्ञानेन—अधिष्ठानसा-

(१)+ ... + चिह्नद्वयमध्यगः पाठो घपुस्तके नास्ति।

यग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि त-

न्यायरत्नावली ।

दिना पापादिकं सत्यमुच्छिद्यत एव परमत इति चेन्न । ज्ञानशब्द-स्य स्वप्रयोजकाज्ञानसमानविषयकज्ञानार्थकत्वात् । तथा च यद-सत्यं तत् स्वप्रयोजकाज्ञानसमानविषयकज्ञानेनोच्छिद्यत इत्यर्थः । स्वपदं ज्ञानपरम् । तादृशञ्च ब्रह्मज्ञानमेव । भिद्यत इत्यादि । हृदयस्याहङ्कारचित्तादात्म्याध्यासस्य ग्रन्थिरिव मूलीभूतमज्ञानम् भिद्यते विदार्यते आवरणशक्तिमुच्छिद्य भोगसमाप्तिपर्यन्तं विक्षेप-शक्तिमात्राविशिष्टं स्थाप्यते । शक्तिद्वयानङ्गीकारे अज्ञानस्वरूपमु-च्छिद्य तत्कार्यसंस्कारदेहादिमात्रं स्थाप्यत इत्यर्थः । सर्वसंशयाः—आत्मा कर्ता न वा ? अकर्तापि भोक्ता न वा ? अभोक्तापि ब्रह्म न वेत्यादिसंशयाः । छिद्यन्ते–भिद्यन्तेआवरणशक्तिरूपमूलोच्छेदादु-त्पत्त्ययोग्याः क्रियन्त इति यावत् । कर्माणि–अभुज्यमानानि पूर्वसञ्चितपापपुण्यानि । क्षीयन्ते(१) *उपादानीभूतविक्षेपशक्तिवि-शिष्टाज्ञानसत्त्वपर्यन्तं विद्यमानान्यपि* स्वाश्रये मनसि सुखादिकं न जनयन्ति । 'तस्य पुत्रा दायमुपयान्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः

नारायणी ।

क्षात्कारेण, सत्यं दृष्टमिति शेषः । शुक्त्याद्यात्मकाधिष्ठानसाक्षात्कारना-श्यस्य शुक्तिरजतादेस्त्रैकालिकाभावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वदर्शनात् । ब्रह्मसाक्षात्कारनाश्यस्यानात्मनोऽपि त्रैकालिकबाधप्रतियोगित्वरूपमि-थ्यात्वमावश्यकमिति भावः । यथा च त्रिकालबाध्यत्वेऽपि सत्यादि-व्यवहारोपपत्तिस्तथोपरिष्टाद्व्यक्तीभविष्यति । मिथ्यात्वेन सह गृहीतव्या-प्तिकस्य ज्ञाननाश्यत्वहेतोरनात्मजातवृत्तित्वज्ञानसंपत्तये श्रुतिमुदाहर-ति–भिद्यत इत्यादि । हृदयग्रन्थिः—हृदयस्यान्तःकरणस्य ग्रन्थिरिव ग्रन्थिः, हृदयवृत्तिवासनामूलमज्ञानम् , भिद्यते—भेदं विनाशमायाति । सर्वसंश-याः—अहं भोक्तृकर्तृस्वरूपो न वेत्यादिसन्देहाः । छिद्यन्ते—उच्छिद्यन्ते,-तत्कारणीभूतावरणनाशात् । अस्य—निवृत्ताविद्यस्य, कर्माणि—सञ्चि-

(१) * *चिह्नद्वयमध्यस्थपाठो घपुस्तके नास्ति ।

स्मिन् दृष्टे परावरे ॥' 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यते अयनाय ।' 'तरति शोकमात्मवि'-दि(१)त्याद्याः ज्ञानात्सर्वसंसारनिवृत्तिं दर्शयन्त्यः तस्य च मिथ्यात्वं सूचयन्ति । 'एकमेवाद्वितीयम्' 'अतोऽन्यदा-

न्यायरत्नावली ।

पापकृत्याम्' इति श्रुत्या ज्ञानिनः पुण्यादिना तदीयसुहृदादौ फलजननोक्तेः । (२)=उक्तप्राप्त्यस्वीकारे तु नश्यन्तीत्यर्थः=। अस्य—दृष्टतत्त्वस्य । हृदयग्रन्थ्यादिषु त्रिषु तदन्वयः । तस्मिन्—प्रत्यगात्मनि, दृष्टे-साक्षात्कृते, परावरे-परः ईशोऽपि अवरः अधस्तत्वेनापकृष्टः यस्माच्छुद्धब्रह्मणः तदभिन्ने । तमेव-आत्मानमेव, अतिमृत्युमेति-अज्ञानमतिक्रामति, नाशयतीति यावत्, अन्यः-तन्मात्रज्ञानादन्यः, पन्थाः—उपायः, अयनाय—स्वरूपप्राप्तये । तरति-नाशयति, शोकम्-अज्ञानम् । सर्वसंसारेति । सर्वप्रपञ्चमूलाज्ञानेत्यर्थः । तस्य-सर्वप्रपञ्चस्य । सूचयन्तीति । अज्ञानादेर्ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपमिथ्यात्वोक्त्या तन्मूलकसर्वप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं सूचितम्, अज्ञानोच्छेदकस्याज्ञानमूलकदृश्योच्छेदकत्वानियमादित्यर्थः । एकं-

नारायणी ।

तानागतानि, क्षीयन्ते—विनश्यन्ति, तस्मिन्परमात्मनि, परावरे—पर ईश एवावरो यस्मादित्यखण्डार्थे, दृष्टे--साक्षात्कृते सतीत्यर्थः । तमेव—परमात्मानमेव, विदित्वा-साक्षात्कृत्य, मृत्युं—प्रमादरूपमज्ञानम्, अत्येति—अतिक्रामति, नाशयतीति यावत् । साधनान्तरसमुच्चयनिरासायाह—नान्य इति । अन्यः—आत्मज्ञानादन्यः, पन्थाः--उपायः, अयनाय स्वरूपप्राप्तये, नास्तीत्यर्थः । श्रुत्यन्तरं—तर इत्यादि । शोकम्—अज्ञानम्, तरति-नाशयति । ज्ञानहेतुकतरणस्य नाशपदार्थत्वात् । तस्य-प्रपञ्चस्य, मिथ्यात्वम्-सर्वदेशयित्रैकालिकाभावप्रतियोगित्वम्, सूचयति-अधिष्ठानसाक्षात्कारनाश्यत्वहेतोः पक्षवृत्तिताबोधसम्पादनेन ज्ञापयति । साक्षान्मिथ्यात्वप्रतिपादिकां श्रुतिमुदाहरति--एकमिति । 'सदेव सौम्ये-

(१) 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीत्याद्याः इत्यधिकः पाठो घपुस्तके ।
(२)=...=एतच्चिह्नद्वयमध्यगः पाठो नास्ति घपुस्तके ।

न्यायरत्नावली ।

सजातीयद्वितीयरहितम् । एव-स्वगतधर्मरूपद्वितीयरहितम् । अद्वितीयं-विजातीयद्वितीयशून्यम् । 'सदेव सोम्येदमग्र आसी'-दिति पूर्ववाक्यम् । ननु नानेन वाक्येन सर्वदृश्यमिथ्यात्वं बोध्यते, सृष्टिपूर्वकालावच्छेदेन ब्रह्मणो दृश्याभावबोधनादिति चेन्न । दृश्याभावे अग्रकालावच्छिन्नत्वानन्वयात् । इदं हि वाक्यं सद्रूपं जगत्कारणमनभ्युपगच्छतां सौगतानामद्वितीयजगत्कारणमनभ्युपच्छतां तार्किकादीनां च मतनिराकरणाय । तथा च यदग्रे सृष्टेः पूर्वमासीत् तत् सत् अद्वितीयश्चेति बोध्यते । तत्र निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वात् येन सम्बन्धेन यद्देशकालावच्छेदेन यस्य दृश्यस्य सद्रूपवैशिष्ट्यं प्राप्तम्, तेन सम्बन्धेन तदवच्छेदेन तदभावसम्बन्धस्य तत्र बोधनात् सर्वदृश्यस्य मिथ्यात्वं सिध्यत्येव । 'सदेव सोम्येद'-मित्यत्र इदंशब्देन प्रपञ्चात्मकब्रह्मणि द्वितीयसामान्याभावबोधनात्, इदन्तादात्म्यस्य उद्देश्यतावच्छेदकत्वेन उद्देश्यतावच्छेदकप्रपञ्चतादात्म्यकालावच्छेदेन द्वैताभाववत्त्वलाभेन मिथ्यात्वलाभात् । यद्यपि प्रतियोगिसत्त्वकालावच्छेदेनाभावस्य बोधः, तथापि स नाहार्यः । प्रतियोगिन इदन्त्वरूपदृश्यत्वेन भानात्, आत्मभिन्नत्वरूपद्वितीयत्वावच्छिन्नाभावत्वेनाभावस्य भानात् । 'नेह नानास्ती'त्यादौ तु इहपदेन प्रपञ्चवतो बोधनादुद्देश्यतावच्छेदकप्रपञ्चसत्त्वकालावच्छेदेन द्वैताभाववत्त्वधीः, अतो नानेत्यादिवाक्यान्यपि व्याख्यातानि । अतोऽन्यदार्तमिति । अतः-आत्मनः,

नारायणी ।

दमग्र आसीदिति पूर्ववाक्यम् । इदं-नामरूपात्मकम् । अग्रे-सृष्टेः पूर्वम् । सदेवासीत्--कालत्रयाबाधितस्वरूपं ब्रह्मैवासीत्, न नामरूपात्मकम्, एतेन ब्रह्मव्यतिरेकेण जगन्नास्तीति ज्ञापितम्, तदेव समर्थयति एकं-सजातीयद्वितीयरहितम्, एव--स्वगतद्वैतरहितम् । अद्वितीयं—न विद्यते द्वितीयं यस्मिन्निति विजातीयद्वितीयरहितम्, तथा च प्रतीयमानस्य जगतो ब्रह्मवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वलाभान्मिथ्यात्वसिद्धिः । श्रुत्यन्तरं-

नम्' 'नेह नानास्ति किं चन' 'अथात आदेशो नेति नेती'-त्याद्याः श्रुतयः साक्षादेव मिथ्यात्वं प्रतिपादयन्ति । दृश्यत्वेन शुक्तिरजतादिवन्मिथ्यात्वानुमानाच्च ।

न्यायरत्नावली ।

अन्यत् आर्त–पीडितम् । येन सम्बन्धेन यदवच्छेदेन यत् यत्र तिष्ठति, तत्तदवच्छेदेन तत्र वर्तमानाभावस्य तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताविशिष्टमित्यर्थः । एतस्यापि निषेधवाक्यत्वेन प्राप्त्यनुसारेण निषेधबोधकत्वात् । दृश्यत्वेनेत्यादि । 'ब्रह्मान्यत् मिथ्या दृश्यत्वात् शुक्तिरूप्यव'दित्यनुमानादित्यर्थः । पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वात् शुक्तिरूप्यादौ न सिद्धसाधनम् । ब्रह्मणि बाधवारणाय ब्रह्मान्यदित्यत्र पक्षः । दृश्यत्वञ्च–दृग्विषयत्वम् । मिथ्यात्वञ्च–सत्स्वरूपान्यत्वम् । ननु सत्स्वरूपस्य ब्रह्मणो भेदे साध्ये सिद्धसाधनम् , सत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगि-

नारायणी ।

नेहेति । इह ब्रह्मणि किञ्चन किमपि नाना भिन्नवस्तु नास्तीत्यर्थः । श्रुत्यन्तरम्—अत इति । अतः-आत्मनः सकाशात् , अन्यत्-मायातत्कार्यम्, आर्त्त-पीडितम्, आत्मतत्त्वसाक्षात्कारेण हतमिति यावत् । श्रुत्यन्तरमाह–'अथात आदेश इति । अथ–सोपाधिकस्वरूपोक्त्यनन्तरम्. अतः–ब्रह्मण एवाविशेषात्, आदेशः–निर्देशः, (आकाशादिप्रपञ्चारोपः) । नेति नेति निषेधदार्ढ्यायाभ्यासः । 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च' इत्यादिना प्रतिपादितं सर्वं सोपाधिकं नास्तीत्यर्थः । एतदभिप्रायको 'न ह्येतस्मादिति, नेत्यन्यत्परमस्ती'ति भागः । हि यस्मादेतस्माद् ब्रह्मणः अन्यन्नास्ति इति हेतोः 'नेति नेति' इति निर्देशो न पुनर्ब्रह्म नास्तीत्यभिप्रायेण, कुतः अन्यत्परमस्ति यतो निरस्तात् प्रपञ्चादन्यत् सर्वावभासकं ब्रह्मास्ति सर्वबाधावधित्वेन तस्यावश्यकत्वात् तथा च स्फुटमेव प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमिति भावः । इत्याद्या इत्यनेन 'इन्द्रजालमिव मायामयं स्वप्न इव मिथ्यादर्शनम्' इत्यादि मैत्रायणीयादिवाक्यपरिग्रहः । श्रुतिप्रमितं मिथ्यात्वं नानित्यत्वमात्रं किन्तु शुक्तिरजतादेरिव त्रिकालाबाध्यत्वमिति ज्ञापयितुमनुमानमाह—दृश्यत्वेनेति । प्रपञ्चो मिथ्या दृश्य-

न्यायरत्नावली।

ताकभेदे साध्ये, किमिदं सत्त्वं ? ज्ञाननिवर्त्यत्वादिरूपमिथ्यात्वशून्यत्वं चेत्? तर्हि तादृशमिथ्यात्वमेव साध्यमस्तु। किञ्च तादृशमिथ्यात्वशून्यं सिद्धान्ते ब्रह्मैव, तथा च ब्रह्मत्वापेक्षयोक्तशून्यत्वस्य गुरुत्वेन प्रतियोगितानवच्छेदकत्वात् साध्याप्रसिद्धिरिति चेन्न। परमते उक्तशून्यत्वस्य ब्रह्मभिन्नेऽपि स्वीकारेण परीत्या परान्प्रत्युक्तसाध्योपन्याससम्भवात्, गुरुरूपस्यापि नव्यैः प्रतियोगितावच्छेदकत्वस्वीकारात्, ज्ञानानिवर्त्यं सर्वं ज्ञेयमित्याकारकयत्किञ्चिद्धीविषयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्य साध्यत्वसम्भवात्, प्रपञ्चसत्त्ववादिना उक्तधीविषयत्वस्य ब्रह्मणीव प्रपञ्चेऽपि स्वीकारात् न सिद्धसाधनम्। उक्तधीविषयताव्यक्तेः शुद्धाया एवावच्छेदकतया निवेशान्नावच्छेदकगौरवनिबन्धनसाध्याप्रसिद्धिः। अलीकवादिनं प्रत्यनुमानोपन्यासे अलीकभेदोऽपि पक्षे विशेषणं वाच्यम्, अन्यथा अलीके भागासिद्ध्यापत्तेः। अनुकूलतर्कस्तु 'दृश्यं यदि मिथ्या न स्यात् अनुपपद्यमानसम्बन्धकं न स्यात्' इत्यादि पूर्वमेव दर्शितम्। ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा साध्यम्, तच्च स्वप्रयोजकाज्ञानाधिकरणकालपूर्वत्वशून्यवृत्तिज्ञानकालिकत्वरूपं ज्ञानोच्छेद्यत्वम्। तत्त्वज्ञानरूपस्य वृत्तिज्ञानस्य कालोपहितत्वात् प्रयोजकाज्ञानाधिकरणकालपूर्वत्वशून्येत्युक्तम्। स्वपदं यत्र ज्ञाननिवर्त्यत्वं स्थाप्यं तत्परम्, शुक्तिरूप्यादावपि ब्रह्मज्ञानमादायैव साध्यसत्त्वम्, अज्ञानाधिकरणकालपूर्वत्वस्थले लाघवादज्ञानकालत्वमेव निवेश्यम्। ननु जीवेशभेदादेरनादित्वेन स्वप्रयोजकाप्रसिद्ध्या तत्र लक्षणासङ्गतिरिति चेन्न। स्वप्रयोजकपदेन स्वकाले वर्तमानमात्रस्योक्तत्वात्, तथा च जीवेशभेदकाले अज्ञानं वर्तत इति तत्र लक्षणान्वयः, (१)अत एवाज्ञान-

(१) अतएवाज्ञाने ऽपि सः इति पाठः घपुस्तके ऽधिकः।

न्यायरत्नावली ।

स्याज्ञानकाले सत्त्वादेतस्य साध्यस्य मिथ्यात्वलक्षणत्वे वृत्तिज्ञानं स्वाविषयकं निवेश्यम् , तेन ब्रह्मणि नातिव्याप्तिः । अथवा येन सम्बन्धेन येन रूपेण यदवच्छेदेन यत्र यदास्ति तदवच्छेदेन तत्र विद्यमानाभावस्य तदवच्छिन्नतद्रूपावच्छिन्नप्रतियोगित्वं साध्यम् , कपालादौ समवायादिसम्बन्धेन घटत्वादिरूपेण यदवच्छेदेन घटादिकमस्ति,तदवच्छेदेन कपालादिनिष्ठस्यात्यन्ताभावस्य समवायादिसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रतियोगित्वस्य व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावमते घटादौ स्वीकारात् । तत्सम्बन्धावच्छिन्नायास्तादृशाभावप्रतियोगिताया अवच्छेदकत्वं वा तद्रूपे साध्यते, तेन न साध्याप्रसिद्धिः । ननु व्याप्यवृत्तिपदार्थेषु नैतादृशसाध्यसम्भवः, तदवच्छेदकाप्रसिद्धेः । किञ्च सिद्धान्ते अभावानां सर्वदेशकालवृत्तित्वेन किञ्चिद्देशकालावच्छिन्नत्वे मानाभावः, तथा च उक्तसाध्यं सिद्धान्ते अप्रसिद्धमिति चेत् , तर्हि यदवच्छेदतदवच्छेदावनिवेश्यावच्छिन्नवृत्तिकत्वशून्याभाव एव निवेश्यः । न चैवं घटादेस्सर्वदेशकालनिष्ठाभावप्रतियोगित्वस्वीकारेऽलीकत्वमेव स्यादिति वाच्यम् । घटादेस्सत्तादात्म्यवत्त्वेन प्रतीयमानत्वेनालीककवैलक्षण्यात् , अलीकं तु न तथा प्रतीयते, अलीकं सत् इति बुद्धेः बौद्धेनाप्यस्वीकारात् , सत्तादात्म्यविनाशवत्त्वादिमत्त्वेनैव घटादेरलीकवैलक्षण्यसम्भवाच्च । तथा च 'सर्वदेशकालनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे सति सत्तादात्म्यशून्यत्वम्' 'अविनाशित्वं' वा अलीकलक्षणम् । बौद्धमतेऽपि यद्यत् सत् तत् क्षणिकमिति नियमात् प्रपञ्चस्य क्षणिकत्वेन विनाशित्वम् , अलीकस्य स्थिरत्वेनाविनाशित्वमिति स्वीक्रियत एवेति ध्येयम् । आदेशः—उपदेशः-ज्ञापनम्(१) । नेति नेतीति । प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्यद्यत् प्राप्तं तत्

(१) अज्ञातार्थज्ञापनम्' इति घपुस्तके पाठः ।

न्यायरत्नावली ।

इतिशब्दद्वयेन उच्यते, तथा च कपालादौ घटादिकं समवायसम्बन्धेन कालविशेषावच्छेदेन वर्तत इति यत्, तत् नेत्यर्थः-तत्र

नारायणी ।

त्वात् शुक्तिरजतादिवदित्यनुमानादित्यर्थः । (१)*दृश्यत्वं साक्षिभास्यत्वम्, मिथ्यात्वं स्वाश्रयनिष्ठत्रैकालिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्* । तदेवमना-

(१) *दृश्यत्वं सप्रकारकवृत्तिविषयत्वम्, साक्षिण्यनिर्वाच्यतादात्म्येनाध्यस्तस्वरूपं साक्षिरूपदृग्विषयत्वम् । मिथ्यात्वं च अवच्छिन्नवृत्तिकत्वशून्याभावप्रतियोगित्वम् । न चालीकसाम्यम्, सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वात् । अत एव न ततोपि व्यवहारानुपपत्तिरपीत्यग्रे स्फुटीभविष्यति । न च दृष्टान्तासिद्धिः । तस्यार्थापत्तिमानादिभिरग्रे व्यवस्थापयिष्यमाणत्वात् । न च स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषाऽजन्यत्वेन सत्यत्वसाधकेन सत्प्रतिपक्ष इति वाच्यम् । अप्रयोजकत्वात् । मम त्वस्ति 'द्वैतं यदि मिथ्या न स्यात् तर्हि अनुपपद्यमानसाधकं न स्यादि'त्यनुकूलस्तर्कः । न च तथापि लाघवात् वृत्तिविषयत्वरूपदृश्यत्वेन ब्रह्मणि गृहीतव्याप्तिकेन सत्यत्वसाधकेन सत्प्रतिपक्ष इति वाच्यम् । दोषाजन्यत्वस्य उपाधित्वात् । नापि सत्त्वावगाहिना 'सन् घट' इत्यादिना प्रत्यक्षेण बाधः । स्वप्रकाशाद्वितीयचैतन्यरूपसत्तायाः परमात्मन्येव क्लृप्तत्वेन जगति बाधात् 'सन् घट' इति प्रत्यक्षेण घटादावग्रहात् । न च सार्वदेशिकत्रैकालिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तुच्छत्वम्, तदभावः सत्त्वम्, तच्च घटादावप्यस्ति, सर्वदेशकालमध्ये स्वदेशकालस्यापि प्रवेशात्, तत्र च स्वस्य विद्यमानतया स्वविरोधिनो निषेधस्यापि बाधेन सर्वदेशकालिकनिषेधप्रतियोगित्वस्यापि बाधादिति वाच्यम् । परिच्छिन्नत्वादिहेतुभिरेव शुक्तौ रजततदभावयोरिव भिन्नसत्ताकयोः स्वस्वाभावयोरविरोधेन स्वदेशकालेपि समावेशात्, तादृशाभावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वस्यैव सत्त्वेन तदभावरूपत्वस्य घटादौ बाधितमिथ्यात्वानुमाने प्रात्याक्षिकबाधत्वायोगात्, सार्वदेशिकत्वसार्वकालिकत्वयोः प्रत्यक्षायोग्यत्वेन तादृशनिषेधप्रतियोगित्वाभावस्य सुतरां प्रत्यक्षायोग्यत्वाच्च । ननु मास्तु बाधादिस्तथापि 'ब्रह्म मिथ्या व्यावहारिकत्वात् शुक्तिरजतादिवदि'त्याभाससाम्यं दुष्परिहरमिति चेन्न । तादृशानुमानस्य शून्यवादापत्तिरूपप्रतिकूलतर्कपराहतत्वेन अप्रयोजकत्वात् । ननूक्तमिथ्यात्वं मिथ्या न वा ? अन्त्ये कथं ब्रह्मभिन्नसर्वमिथ्यात्वम्, प्रपञ्चधर्मस्य मिथ्यात्वस्य सत्यत्वस्वीकारात्, तद्वदेव प्रपञ्चसत्यत्वापत्तेश्च । आद्येपि कथं प्रपञ्चसत्यत्वम्, मिथ्यात्वस्य स्वाश्रयजगन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वस्वरूपमिथ्यात्वलाभे तदाश्रयस्य जगतो मिथ्यात्वाभावरूपसत्त्वलाभात् । तथाचोभयथाप्यद्वैतभङ्ग एवेति चेत्, भ्रान्तोसि । पृथिवीत्वधर्मधर्मितावच्छेदकीकृत्य गन्धवत्त्वादिहेतुभिरनुमेयस्य इतरभेदादेः पृथिवीत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्ने घटादाविव द्वैतत्वावच्छेदेन दृश्यत्वादिहेतुभिरनुमेयस्य मिथ्यात्वस्य द्वैतत्वव्याप्यधर्माव-

आत्माध्यस्ततयैवानात्मनि सिद्धेः तत्रात्माध्यासः ।

न्यायरत्नावली ।

तेन सम्बन्धेन तदवच्छेदेन तत् नास्तीति यावत् । घटादौ तु घटत्वादिकं समवायादिसम्बन्धेन अवच्छेदकमनपेक्ष्यैव प्राप्तं तथैव निषिध्यते-साक्षादेवेति । आर्तपदेन पीडितोक्त्याऽबोधपीडितत्वलाभेन ज्ञाननिवर्त्यत्वरूपमिथ्यात्वविशिष्टं बोध्यते, अद्वितीयमित्यादौ तु नञ्पदेन प्रतियोग्यवच्छेदकावच्छिन्नाभाववति व्याप्यवृत्त्यभाववति वा लक्षणया । 'नेह नानास्ती'त्यादौ तु नञ्पदेन तादृशाभावो लक्षणया बोध्यते, यत्किञ्चिदवच्छेदेन वर्तमानस्यावच्छेदकाविशेषितस्य वा द्वितीयाभावस्य ब्रह्मणि प्रत्यक्षादिप्राप्ततया उक्ताभावबोधने उक्तवाक्यावैयर्थ्यात् । उक्ताभावघटितमिथ्यात्वस्यानुमानव्याख्याने व्युत्पादितत्वेन तदुत्तरमंथात इति ग्रन्थो व्याख्यातः। तदेवमनात्मनो मिथ्यात्वेन श्रुतिसिद्धत्वात्तस्यात्मसंसर्गाध्यासम्प्रति अधिष्ठानत्वानुपपत्तिमुक्त्वाऽऽत्माश्रयादिदोषादपि तामाह-आत्माध्यस्ततयेत्यादि । आत्माध्यस्ततया-आत्मसंसृष्टत्वेनैव प्रतीयमानतया, आत्माध्यासः-आत्मसंसर्गाध्यासः, सिद्धान्ते आत्मनोऽनध्यासात् । तथा च आत्मनो घटस्सन्निति

नारायणी ।

त्मनो मिथ्यात्वेनाधिष्ठानत्वासंभवमुक्त्वा आत्माश्रयादिदोषेभ्योऽपि तमाह—आत्माध्यस्ततयेति । सन् घट इत्यात्मनि कल्पितत्वेनैवेत्यर्थः। अनात्मनि-नामरूपात्मके देहादौ, सिद्धे-वस्तुत्वेन सिद्धे, तत्र-अनात्मनि, आत्माध्यासः-आत्मन इदमंशस्येव संसृष्टरूपेण अध्यासो वाच्य इति शेषः ।

च्छिन्ने मिथ्यात्वेपि व्यापकधर्मपुरस्कारेणैवासति बाधके सिद्धत्वात्, पूर्वपक्षस्यैवानवकाशात् । साध्यसिद्धेः पूर्वं व्याप्यधर्मावच्छिन्ने बाधाग्रहाच्च । न च 'द्रव्यं क्रियावत् गुणवत्त्वा'-दित्याभाससाम्यम् । तत्राकाशादौ क्रियावत्त्वबाधस्य प्रागेव ग्रहणात्, इह तु दृश्यत्वादिहेतुना मिथ्यात्वसाधारणद्वैतत्वावच्छेदेन मिथ्यात्वसिद्धेः पूर्वं न मिथ्यात्वे मिथ्यात्वबाधग्रहः तस्यैवाप्रमितेः । स्वसाधारण्येन प्रमिते च तस्मिन्सुतरां न तद्ग्रहः इत्याद्यन्यत्र विस्तरः ।*
अयमधिकः पाठः खपुस्तके । तदेवमनात्मनो मिथ्यात्वेन इत्यादि सममग्रे ।

अनात्माध्यासेन चात्मनो दोषसादृश्यादिसम्भवात् । तत्र चानात्माध्यास इत्यात्माश्रयादिदोषप्रसङ्गाच्च । एतेना-

न्यायरत्नावली ।

तत्तादात्म्येनैव प्रत्ययादनात्माध्यासस्य आत्मसंसर्गघटितस्यात्मसंसर्गस्यापेक्षणीयत्वादात्माश्रयः, आत्मसंसर्गापेक्षोऽनात्मा तत्सापेक्ष आत्मसंसर्ग इत्यन्योन्याश्रयश्चेति भावः । सादृश्यादीति । सा-सादृश्यादिज्ञानेनेत्यर्थः । अध्यासकारणसंस्कारोद्बोधकतया सादृश्यादिज्ञानापेक्षयेति भावः । आत्माश्रयादीति । अनात्मव्यक्तीनां मध्ये स्वस्य स्वं प्रति दोषविधया कारणत्वे आत्माश्रयः, द्वयोः परस्परं प्रति तत्स्वीकारे अन्योन्याश्रयः, स्वकारणकारणं प्रति स्वस्य तत्स्वीकारे चक्रकम्, एकं प्रत्यन्यस्येत्यादिस्वीकारे अनवस्थेत्यर्थः । एतेनेति । अव्यवहितपूर्वोक्तात्माश्रयादिना व्यवहितपूर्वोक्तेनानिर्मोक्षप्रसङ्गश्रुतिविरोधप्रसङ्गाभ्यामनात्मनः सत्यत्वासम्भवेन चेत्यर्थः । आत्मानात्माध्यासस्य—व्यावहारिकयोरात्मसंसर्गानात्माध्यासयोः, अविद्यात्मकत्वात्—अविद्यारूपदोषमूलकत्वात् । व्यावहारिकाध्यासे यद्यपि=कामकर्मणोरपि दोषत्वम्, 'आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा । कामरूपेण' त्यादिगीतोक्तेः । अज्ञानं-भ्रमाधिष्ठानचैतन्यम्, तथा चाधिष्ठानावारकत्वेनैव दोषत्वलाभात्,

नारायणी ।

इत्थं च भवत्यात्माश्रयादिदोष इत्याह--अनात्माध्यासेन चेति । अज्ञानान्तःकरणादेरध्यासेन चेत्यर्थः । तत्र—आत्मनि, अनात्माध्यासः—आत्माध्यासाधिष्ठानस्यानात्मनः साधकोऽनात्माध्यासः । अध्यासमूलकत्वादनात्मनः, अध्यासस्य च सादृश्यादिमूलकत्वात्, सादृश्यादेश्चानात्माध्यासमूलकत्वादिति स्वाध्यासे स्वस्यापेक्षया आत्माश्रयः, अन्यकल्पने परस्परापेक्षाऽतोऽन्योन्याश्रयः, तदन्यकल्पने त्रयाणां परस्परापेक्षा अतश्चक्रकम्, तत्राप्यन्यकल्पने अनवस्थेति भावः । एतेनेति । आत्माश्रयादिदोषप्रसङ्गेन अपास्तमित्यन्वयः । आत्मानात्माध्यासस्य—आत्मानात्मनोः

त्मानात्माध्यासस्याविद्यात्मकत्वान्न विकल्पावसर इत्यपास्तम् , स्वप्रकाशात्मनि अविद्याया अप्यनुपपत्तेः । तथाहि साऽध्यध्यस्ता, अनध्यस्ता वा? तत्राद्ये कथं नात्मा-

न्यायरत्नावली ।

'कर्मक्षये ज्ञानमपास्तदोष'मित्यादि

मही घटत्वं घटतः कपालः कपालिका चूर्णरजस्ततोऽणुः ।
जनै(१)स्स्वकर्मस्तिमितात्मनिश्चयैरालक्ष्यते--

इत्यादिविष्णुपुराणोक्तेश्च ।=[ ]तथापि पूर्वपूर्वकामकर्मणोरुत्तरोत्तरतद्धेतुत्वेनानवस्थादोषे प्राप्ते प्रवाहरूपेण बीजाङ्कुरादिवत् अनादित्वेन तत्परिहारो वाच्यः । अविद्याया दोषविधया हेतुत्वे तु नानवस्थादोष इत्याशयेन तदेव सिद्धान्तितोक्तम् । विकल्पावसरः-आत्माश्रयादिविकल्पावसरः, अविद्याया अनादित्वेन तत्रान्यदोषानपेक्षेति भावः । स्वप्रकाशेति । स्वप्रकाशस्य सत्यत्वात् तदप्रकाशरूपाविद्या मिथ्यैव, तथा च वक्ष्यमाणदोषापत्तेस्तदनुपपत्तिरिति भावः । आत्माश्रयादीति । अविद्यारूपदोषस्य उत्पत्तौ तस्यैव हेतुत्वे आत्माश्रयः, तत्कार्यस्य हेतुत्वेऽ-

नारायणी ।

परस्पराध्यासस्य, आविद्यकत्वात्--दोषविधयाऽनाद्यविद्याप्रयुक्तत्वात्, न विकल्पावसरः--आत्मनि अनात्माऽध्यस्येत ? अनात्मनि वात्मेति विकल्पस्यावकाशो नास्ति, द्वयोरप्यध्याससम्भवेन विकल्पवैयर्थ्यादिति भावः । स्वप्रकाशेति । न जानामीत्यज्ञानस्याप्यवभासकतया सिद्धे स्वतः स्फूर्तिमतीत्यर्थः । अविद्याया आवरणात्मिकाया अपिशब्दाद्दोषान्तरस्य च अनुपपत्तेःतमःप्रकाशवद्विरोधेनासम्भवात् । असम्भवं प्रकटयति-- तथाहीति । आत्माश्रयादीति । दोषत्वाद्दृश्यादिकं विनाऽऽत्मन्यविद्याध्यासा-

(१) स्वकर्मभिः स्तिमितः प्रतिबद्धः आत्मनिश्चयो येषान्ते । अयं पाठः मूले एव [ ] चिह्नितस्थले आसीत् परन्तु--"व्यावहारिकाध्यासे यद्यपि कामकर्मणोरपि दोषत्वं ... तथापि ... अनवस्थादोषे प्राप्ते ... तत्परिहारो वाच्यः" इत्यस्मिन्वाक्ये सम्बन्धविच्छेदकरत्वात् टिप्पणीस्थ एव मूले पतित इत्यालोक्य टिप्पण्यामेव निवेशितः ।

श्रयादिदोषप्रसङ्गः । अन्त्ये तस्यानुच्छेदादनिर्मोक्ष-प्रसङ्गः । सर्वस्याध्यासमूलत्वे भ्रमप्रमादिव्यवस्था च न स्यात् । एकस्यैवात्मनः प्रमाणप्रमेयप्रमितिप्रमातृरूपता च विरुद्धा । अविरोधाभ्युपगमे वा सौगतमताप-

न्यायरत्नावली ।

न्योन्याश्रयः, अविद्यान्तरस्य हेतुत्वे तत्रापि अविद्यान्तरस्येत्यादिस्वीकारे त्वनवस्थादिकम् । अकार्यत्वन्तु नाविद्यारूपाध्यासस्य सम्भवति प्रातीतिकाध्यासे तददर्शन दिति भावः । सर्वस्य—व्यावहारिकप्रातीतिकरूपस्य, अध्यासमूलत्वे—भ्रममात्रविषयत्वे। भ्रमप्रमादिव्यवस्था—'इदं रजत' मित्यादिधीर्भ्रमः, 'इयं शुक्तिरित्यादिधीः प्रमा, आद्या बाध्या, द्वितीया बाधिकेत्यादिव्यवहारः । एकस्येत्यादि । चित एव प्रमाणत्वादिकं सिद्धान्ते स्वीक्रियते, तद्विरुद्धमित्यर्थः । ननु अध्यासोपाधिभेदेन एकस्यापि प्रमाणादिरूपत्वं न विरुद्धम्, तत्राह—अविरोधेत्यादि । सौगतेति ।

नारायणी ।

सम्भवात्तदर्थमपेक्षिताविद्याध्यासस्य स्वापेक्षात आत्माश्रयोऽविद्यान्तराध्यासाद्यपेक्षातोऽन्योन्याश्रय इत्यादिपूर्वोक्तः प्रकारः स्फुट इति भावः । तस्या अविद्यायाः अनुच्छेदात्—आत्मन इव नाशायोगात् । अनिर्मोक्षप्रसङ्गः—अज्ञाननिवृत्त्युपलक्षितस्वरूपावाप्तिरूपमोक्षाभावप्रसङ्गः । नन्वज्ञानाध्यासस्याप्यनादित्वान्नोक्तदोष इत्यतो दूषणान्तरमाह—सर्वस्येति । द्वैतज्ञानस्येत्यर्थः । अध्यासमूलत्वे-भ्रममात्रसिद्धत्वे, 'शुक्तिज्ञानं प्रमा रजत ज्ञानं भ्रम' इति व्यवस्था न स्यादित्यर्थः । तयोर्बाध्यबाधकभावो न स्यादिति भावः । तेषां भ्रममात्रशरीरत्वेऽपि चितः प्रमाणादिकमङ्गीक्रियतेऽतो नाव्यवस्था तत्राह—एकस्यैवेति । अद्वितीयस्येत्यर्थः । प्रमाणत्वाद्युपपादकधर्मादिना रहितस्येति यावत् । विरुद्धा—अन्यतरसत्त्वेनासम्भाविता । प्रमां प्रति करणत्वेऽङ्गीकृते प्रमाया विषयत्वमनुपपन्नं विषयत्वे तु विषयिप्रमारूपताऽनुपपन्ना तथात्वे तदाश्रयत्वमनुपपन्नम्, एवं परस्परमपीति संक्षेपः । ननु स्वतो विरुद्धाप्यध्यासिकोपाधिभेदेनाविरुद्धाऽत आह—अविरोधेति । अध्यस्ताहंत्वाद्याकारभेदेन ज्ञानमेव प्रमात्रादिरूपमिति सौगतमतादविशेषापत्तिरित्यर्थः । नन्वध्यासोऽपि नो-

त्तिरिति। अत्रोच्यते। अहं मनुष्यः कर्ता भोक्तेत्यादि-प्रतीतिस्तावत्सर्वजनसिद्धा। सा च न स्मृतिरपरोक्षावभासत्वाद्भेदाग्रह(१)पूर्वकत्वाच्च। नापि प्रमा, श्रुतियु-

न्यायरत्नावली।

(२)अध्यस्तकारणभेदेन ज्ञानमेव प्रमात्रादिरूपमिति सौगतमताद-विशेषापत्तिरित्यर्थः। ननु अध्यासोऽपीत्यादिना सौगतमतापत्ति-रित्यन्तेन उक्तान् सर्वपूर्वपक्षान् समाधातुं प्रतिजानीते—अत्रो-च्यते इति। न स्मृतिरिति। यद्यपि नाबाधितार्थकस्मृतिरि-त्येव वक्तुमुचितम्, भ्रमत्वमात्रस्यैव प्रकृते वाच्यत्वात्, तथापि ग्रहणस्मरणोभयरूपत्वेन यो भ्रमत्वनिषेधः सांख्यादिसम्मतः त-न्निराकरणाय स्मृतित्वनिषेधः। अपरोक्षावभासत्वात्—प्रत्यक्षरूप-तया प्रतीयमानत्वात्। ननु अहमित्यंशे प्रत्यक्षम्, मनुष्य इत्यंशे तु स्मृतिः, तयोस्तद्विषययोश्च भेदाग्रहादेकत्वव्यवहारः, अथवा 'अहं मनुष्य' इत्यत्र मनुष्यदेहस्वामी आत्मा विषयः, एवम् 'अहं कर्ते'त्यत्र कर्तृमनस्स्वामी,(३) 'अहं भोक्ते'त्यत्र सुखाद्याश्रयमन-स्स्वामी, तथा च स्वामित्वतत्संसर्गयोस्स्मृतिरूपमपि विशेष्ये प्र-त्यक्षमेकं सम्भवति तत्राह—भेदाग्रहपूर्वकत्वादिति। भेदाग्र-

नारायणी।

पपद्यत इत्यादिना सौगतमतापत्तिरित्यन्तेनोक्तान्सर्वान् पूर्वपक्षान् समा-धातुं प्रतिजानीते- अत्रेति। प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या भ्रमसामग्रीं व्यव-स्थापयिष्यन् प्रथमतः प्रतीतिं शोधयति—अहं मनुष्य इत्यादि। सूचीक-टाहन्यायेन प्रथममख्यातिवादं निराचष्टे-सा चेति। अपरोक्षेति। 'मनुष्यं मां जानामी'ति प्रत्यक्षरूपतया प्रतीयमानत्वादित्यर्थः। ननु मनुष्योहमि-त्यादिप्रतीतिर्मनुष्यदेहस्वाम्यात्मविषयापि देहाद्यंशे स्मृतिरूपा आत्मां-शे प्रत्यक्षरूपेति तथा प्रतीयत इत्यत आह—भेदेति। भेदाग्रहजन्यविशिष्ट-

(१)—भेदाग्रहः अपूर्वकत्वाच्च इति पाठो गपुस्तके प्रामादिकः।

(२) अध्यस्ताकारभेदेनेति, घपुस्तके,

(३) आत्माविषयः इत्यनुषङ्गः एवमग्रेपि।

क्तिबाधितत्वात्। तथा च श्रुतयः–'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः, अयमात्मा ब्रह्म, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, य

न्यायरत्नावली।

हजन्यविशिष्टबुद्धित्वादित्यर्थः। उपस्थितविशेष्यविशेषणयोर्भेदाग्रहत्वेन विशिष्टविषयकप्रवृत्त्यादिहेतुत्वे गौरवात्, विशेष्यविशेषणविशिष्टविषयकधीत्वेनैव तदुचितमिति भ्रमत्वबाधितवैशिष्ट्यज्ञानत्वरूपं न तूपस्थितयोर्भेदाग्रहत्वम्, आत्मनि शरीरादिस्वामित्वविषयकम्, तस्यात्मनि शरीरादेर्भेदग्रहपूर्वकत्वनियमादिति भावः। श्रुतय इति। ब्रह्मस्वरूपतां दर्शयन्तीत्यग्रे अन्वयः। विज्ञानमयः–'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' इति श्रुत्युक्तकर्तृरूपविज्ञानशब्दितबुद्ध्यभिमानी 'स्त्रीमयोऽयं जाल्म' इतिवत्तदभिमानित्वोक्त्या तद्भेदलाभः, एवं प्राणेषु प्राणाभिमानी, हृदि मनस्यभिमानसम्बन्धेन विद्यमानम्, अन्तर्जन्यज्ञानरूपबाहिज्योतिभिन्नम्, ज्योतिः–स्वप्रकाशचैतन्यम्, पुरुषः–पुरुषु दृश्येषु अनुस्यूत इत्यनेनापि सर्वदृश्यभिन्नचिद्रूपलाभात् अकर्तृभोक्तृत्वलाभः,। अत एव 'ध्यायतीव लेलायतीवे'त्याद्युत्तरवाक्येन परमार्थतो ध्यानादिशून्यत्वमुक्तम्, विज्ञानं–स्वप्रकाशचित्स्वरूपम्, आनन्दम्–

नारायणी।

बुद्धित्वादित्यर्थः। देहादिस्वामित्वविषयत्वे भेदग्रहपूर्वकत्वं स्याद्भेदग्रहं विना स्वस्वामिभावभावनायोगादिति भावः। विशिष्टप्रमारूपतां निराकरोति—नापि प्रमेति। श्रुतय इति। अकर्तृभोक्तृरूपतामात्मनो दर्शयन्ति इत्यनेनान्वेति। विज्ञानमयः–बुद्ध्यभिमानी, प्राणेषु हृदि अभिमानसम्बन्धेन विद्यमानः प्राणाभिमानी मनोऽभिमानी चेत्यर्थः। अन्तर्ज्योतिः–जन्यज्ञानरूपबहिर्ज्योतिर्भिन्नः स्वप्रकाशः, पुरुषः–सर्वदृश्यानुस्यूतः, अनेन कर्तृभोक्तृविज्ञानभेदलाभादकर्तृभोक्तृरूपता सिद्धिः। अयमात्मा जीवः ब्रह्म परमात्मा समानस्वभावत्वादिति भावः। अभेदोक्त्याऽत्राकर्तृभोक्तृरूपतासिद्धिः। सत्यमिति। अत्रानन्तमित्यनेनापरिच्छिन्नत्वोक्त्या अभेदलाभात् [तथार्थलाभः]। विज्ञानमिति। स्वप्रकाशचिद्रूपत्वोक्त्याऽत्रापि

आत्मा अपहतपाप्मा, यत्साक्षादपरोक्षात् ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तरः, योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्ये-

न्यायरत्नावली ।

आनन्दस्वरूपम्, न तु मत्वर्थप्रत्ययलोपात् आनन्दयुक्तम्, 'आनन्दो ब्रह्म, एष एव परमः आनन्दः, एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'त्यादिश्रुतिभ्यः। अन्यानि-औपाधिकभेदेन एतस्मात् भिन्नानि, भूतानि-जीवाः, मात्रां-विषयसुखरूपमंशम्, उपजीवन्ति-भुञ्जते, अनन्तम्-अभावाप्रतियोगि, ब्रह्म शुद्धत्वाद्यतिशयवत्। अपहतो निर्गतः पाप्मा यस्मात् सोऽपहतपाप्मा। साक्षादपरोक्षात्-अपरोक्षचिद्रूपम्, न तत्तादात्म्येन घटादिवदपरोक्षः। सर्वान्तरः-सर्वदृश्याधिष्ठानम्। अशनायापिपासे प्राणस्य, शोकमोहौ मनसः,जरामृत्यू देहस्य-धर्मौ। अत्येति-तेषामनाधारः। स यत्रेत्यादिवाक्यं जाग्रदाद्यवस्थाबोधकवाक्यानामेकैकोत्तरमस्ति, तथा च (१)जागरिततद्वाक्योत्तरवाक्यस्थस्य तत्रेत्यस्य जाग्रदवस्थायामित्यर्थः। एवं स्वप्नसुषुप्तिवाक्योत्तरस्थस्य स्वप्ने

नारायणी ।

तथार्थलाभः। कर्त्रादिस्वरूपत्वे परिच्छिन्नत्वापत्त्या भासकत्वानुपपत्तेः। य आत्मेति। अपहतः पाप्मा कर्माशयो यस्मादित्यकर्तृभोक्तृरूप इत्यर्थः। यत्साक्षादिति। साक्षात्-अगौणम्, अपरोक्षात्-अपरोक्षम्, स्वत एवापरोक्षं न घटादिवत्सत्तादात्म्येनापरोक्षमित्यर्थः। अयमिति। सर्वान्तरः-सर्वस्य कार्यजातस्यान्तरे स्थितः, अधिष्ठानतयेति भावः। तथा च सर्वदृश्याधिष्ठानतया सर्वावभासकत्वसूचनादकर्तृभोक्तृतासिद्धिः, अन्यथा भासकत्वानुपपत्तेरिति भावः। साक्षादेवाकर्तृत्वादिप्रतिपादिकां श्रुतिमुदाहरति-योऽशनायेति। अशितुमिच्छाऽशनाया पातुमिच्छा पिपासा ते प्राणधर्मौ, शोकम्-अज्ञानम्, मोहः-प्रमादः तौ मनसः। जरा-अङ्गजीर्णता मृत्युः-प्राणवियोगः, तौ स्थूलदेहस्य धर्मौ। अत्येति-

(१) जाग्रद्वाक्योत्तरेत्यादिः घपुस्तके।

ति,स यत्तत्र किं चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवति,असङ्गो ह्ययं पुरुष' इत्याद्या अकर्तृभोक्तृपरमानन्दब्रह्मरूपतामात्मनो दर्शयन्ति। युक्तयश्च-विकारिणः परिच्छि-

न्यायरत्नावली।

सुषुप्तावित्यर्थः। स-जीवो, यदिति ज्ञेये ज्ञानाक्रियायाश्च विशेषणम्, पश्यति-जानाति, अनन्वागतः-असंसृष्टः, तेन-ज्ञेयेन ज्ञानेन च, अपरोक्षविषयस्यापि सर्वानुस्यूतसद्रूपचिदात्मके जीवे तादात्म्यप्राप्त्या निषेधो न व्यर्थः। असङ्गः-सम्बन्धसामान्यशून्यः, हि शब्दोऽसङ्गत्वहेतुतां द्योतयति। अयं-दृग्रूपः, पुरुषः-सर्वदृश्येषु अधिष्ठानत्वेनानुस्यूतः, तथा च दृग्दृश्ययोरसम्बन्धानुपपत्तेः सर्वदृश्यानां दृशि कल्पितत्वात्। असङ्गत्वहेतुर्नासिद्ध इति भावः। इत्यादिपदेन 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवती'त्यादिश्रुतिसङ्ग्रहः। ब्रह्मरूपताम्-अद्वितीयेशरूपताम्। श्रुतिबाधितत्वं प्रदर्श्य युक्तिबाधितत्वंप्रदर्शयति-युक्तयश्चेति इत्याद्याः।इत्यग्रेऽन्वयः। युक्तयोनुमानं तदनुकूलतर्काश्च तत्र निर्धर्मकनित्यस्वप्रकाशसुखात्मक एक एवात्मेति अनेन वक्ष्यमाणवाक्येन 'आत्मा निर्धर्मकः नित्यत्वात्; नित्यः स्वप्रकाशसुखरूपत्वाद्, इत्यनुमानद्वयं विवक्षितम्। (१)(स्वप्रकाशसुखरूपतयोः स्वप्रकाशानभ्युपगमे इत्यादिनानुमानद्वयं विवक्षितम्) विकारिण इत्यादिना च तर्का विवक्षिताः, तत्र

नारायणी।

अतिक्रामति, तद्रहित इत्यर्थः। श्रुत्यन्तरं—स यदिति। सः-अवस्थात्रयसाक्षी, यत्किञ्चिद्-दृश्यम्, तत्र-जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु, पश्यति-साक्षात्करोति, तेन-दृश्येन, अनन्वागतः-असंस्पृष्टो भवति। हि-यस्मात्, अयम्-अहमिति धिया व्यवह्रियमाणः, असङ्गः-सङ्गसामान्यरहितः। भासकस्य भास्येन समं धर्मधर्मिभावप्रयोजकसम्बन्धाभावादित्यन्यत्र विस्तरः। आद्यशब्देन 'अमूढो मूढवद् भुङ्क्ते मायया वे'त्यादिश्रुतिसंग्रहः। श्रुतिबाधितत्वं प्रदर्श्य युक्तिबाधितत्वं प्रदर्शयति—युक्तय इति। इत्याद्या इत्यग्रेतनेना-

(१) (...) एतच्चिन्हान्तर्गतपाठो घपुस्तके नास्ति पुनरुक्तिदुष्टश्च।

न्नत्वेन अनात्मत्वापत्तेः, स्वेनैव स्वस्य ग्रहणे कर्तृकर्म-

न्यायरत्नावली ।

निर्धर्मकत्वं—परमार्थत्वरूपेण धर्माभावः। तेन धर्माभावरूपधर्मस्य साध्यस्य व्यावहारिकत्वं स्वव्याघातः, प्रातीतिकत्वे अनुमानस्याभासत्वम्, पारमार्थिकत्वे अद्वैतश्रुतिविरोधः, धर्माभावस्वरूपत्वे साध्ये सधर्मकत्वाप्रतिक्षेपापत्तिरित्यादि परास्तम्। वस्तुतो व्यावहारिको धर्माभावो न स्वव्याघातकः, धर्मतदभावयोर्व्यावहारिकयोः स्वाप्नयोर्गजतदभावयोरिवाविरोधात्। अत्र गज इति स्वाप्नज्ञानोत्तरं कदापि नात्र गजोऽस्तीति स्वाप्नज्ञानस्येव इहात्मनि धर्मोऽस्तीति ज्ञानोत्तरमात्मा निर्धर्मक इत्यनुमितेः प्रतियोगिसमसत्ताकाभावविषयकत्वसम्भवात्। विस्तृतश्चैतच्चन्द्रिकायाम्। ननु यदि निर्धर्मको न स्यात् तदा नित्यो न स्यात् धर्मधर्मिणोस्तादात्म्येन धर्मोत्पत्तिनाशाभ्यां धर्मिण उत्पत्तिनाशरूपविकारापत्तिरिति तर्को वाच्यः, तत्र इष्टापत्तिरेवेत्यत आह— विकारिण इत्यादि। आत्मनो विकारस्वीकारे अभावप्रतियोगित्वरूपपरिच्छेदा(१)दात्मत्वस्याभावापत्तिरित्यर्थः। आत्मा यदि कर्तृत्वादिमान् स्यात्तदा द्रष्टा न स्यादित्य-

नारायणी ।

न्वेति। युक्तयोऽनुमानानि तदनुकूलतर्काश्च। तत्र निर्धर्मकनित्यस्वप्रकाशसुखात्मक एवात्मेत्यनेन वक्ष्यमाणवाक्येन आत्मा निर्धर्मकः नित्यत्वात्, आत्मा नित्यः स्वप्रकाशसुखात्मकत्वादिति विवक्षितानुमानद्वयेऽनुकूलतर्कानाह—विकारिण इत्यादिना। कर्तृत्वभोक्तृत्वरूपविकारवतः आत्मनः। परिच्छिन्नत्वेन—विभुत्वे भोगसाङ्कर्यात् अणुत्वे सर्वदेहव्यापिसुखाद्यनुपलब्धेरवश्यवाच्यमध्यमपरिमाणवत्त्वेन। अनात्मत्वापत्तेः-घटादेरिवात्मस्वरूपताभावापत्तेः। मध्यमपरिमाणवतो विनाशिन आत्मत्वायोगादिति भावः। तथा च यद्यात्मा सधर्मकः स्यात् तदाऽनात्मैव स्यादिति तर्कः पर्यवसितः। तत्रात्मा यदि कर्तृत्वादिधर्मवान्स्यात्तदाऽहं कर्त्तेति द्रष्टा न स्याज्जडस्य मनआदेर्द्रष्टृत्वायोगात्कर्तृकर्मविरोधेन स्वेनैव स्वस्य

(१) —परिच्छेदापत्त्या परिच्छेदाऽभावव्याप्यात्मत्वस्येत्यादिः घपुस्तके पाठः।

विरोधात्, दृग्दृश्यसम्बधानुपपत्तेर्भेदेनाभेदेन वा धर्मध-

न्यायरत्नावली।

र्भेदे द्रष्टृदृश्यभावानुपपत्तिरिति तर्कमाह—स्वेनेत्यादि। स्वेन—आत्मना, स्वस्य—कर्तृत्वादिमदात्मनो, ग्रहणे—विषयीकरणे, कर्त्ता साक्षी विषयी व्यवहर्तृत्वात्, स एव कर्म—विषयः व्यवहार्यत्वात् तत्र विरोधः—एकत्वे सम्बन्धासम्भवेन विषयिविषयभावसम्पादकतादात्म्यसम्बन्धानुपपत्तिरित्यर्थः। कर्तृत्वं ज्ञानं चिद्रूपं प्रत्यपि सम्भवति, जन्यविषयतावच्छिन्नं ज्ञानमपि क्षेमसाधारणजन्यतावदिति वा, तथा च कर्तृकर्मत्वयोर्व्यवहाराक्रियापेक्षत्वेऽपि न क्षतिः। (१)ननु तादात्म्यं प्रत्यनुयोगित्वं विषयत्वं प्रतियोगित्वं विषयित्वम्, तत्राद्यं कर्तृत्वादिविशिष्टरूपेण द्वितीयं शुद्धरूपेणैकस्यात्मनस्सम्भवत्येव तत्राह—दृग्दृश्येत्यादि। दृग्दृश्ययोस्सम्बन्धनिर्वचनस्य पूर्वोक्तरीत्या असम्भवात्, दृगात्मनि विषयिणि विषयरूपं सर्वं मिथ्येति निर्धर्मकत्वमात्मन इति भावः। आत्मा यदि पारमार्थिक-

नारायणी।

ग्रहणायोगाच्चेति तर्कान्तरमाह—स्वेनेति। स्वेनात्मना स्वस्य-कर्तृत्वादिमदात्मनः, ग्रहणे-विषयीकरणे। कर्ता द्रष्टा विषयी व्यवहर्तृत्वात्, कर्म दृश्यं विषयः व्यवहार्यत्वात्, तत्र विरोधः-द्रष्टृत्वे दृश्यत्वस्य दृश्यत्वे द्रष्टृत्वस्यानुपपत्तिः, तयोरेकत्रासमावेशस्य साधनादिति भावः। यद्यात्मा सधर्मकः स्यात्तदा निरूपणार्हतत्सम्बन्धवानपि स्यादिति तर्कान्तरमाह—दृग्दृश्येति। दृगात्मा भासकः, दृश्यं कर्तृत्वादिकम्(२) तयोः सम्बन्धस्य तादात्म्यस्य समवायस्य वा अनुपपत्तेः—असम्भवात्। तथाहि—न तादात्म्यं सम्बन्धः, आत्मनो विनाशित्वापत्तेः, तदभिन्नधर्मनाशे तस्यापि नाशावश्यम्भावात्, कूटस्थनित्यताभङ्गप्रसङ्गाच्च। धर्माणामप्यनाशे त्वनिर्मोक्षप्रसङ्गः, अशेषविशेषगुणवियोगस्यैव पुमर्थत्वोक्तेः। नापि समवायः, तस्य सम्बन्धत्वासम्भवात्। तथाहि—सम्बन्धिभ्यां भिन्नत्वे सति सम्बन्धिनि सम्ब-

(१) ननु तादात्म्यं प्रति प्रतियोगित्वं विषयत्वम् तादात्म्यं प्रत्यनुयोगित्वम् विषयित्वम् इति घपुस्तके पाठः, युक्तश्च।

(२) दृश्यं घटादिकं तयोः सम्बन्धस्य विषयविषयिभावस्य अनुपपत्तिरपि बोध्या।

र्मिभावानुपपत्तेश्च, ज्ञाननित्यत्वपक्षे तत्तद्व्यक्तिभेद-

न्यायरत्नावली।

धर्मवान् स्यात्तदा निरूपणार्हधर्मसम्बन्धवान् स्यादिति तर्कमाह—भेदेनेति। तादात्म्यान्यसम्बन्धेनेत्यर्थः, अभेदेन तादात्म्यसम्बन्धेनानुपपन्नेनेति शेषः। अनुपपत्तेरिति। तादात्म्येन तदन्येन वा सम्बन्धेन सम्बद्धयोर्धर्मधर्मिता वाच्या, तादात्म्यादिसम्बन्ध एव तु न सम्भवति सम्बन्धान्तरेणासम्बद्धस्य तस्य सम्बन्धस्य सम्बन्धत्वासम्भवेन सम्बन्धान्तरं वाच्यम्, एवं तस्यापि सम्बन्धान्तरमिति अनवस्थापत्तेः। न च सम्बन्धस्य सम्बन्धान्तरेण न सम्बन्धता किन्तु स्वेनैव सम्बन्धेनेति वाच्यम्। स्वस्य स्वप्रतियोगिकसम्बन्धत्वासम्भवात्, स्वं न स्वीयमित्यनुभवात्, अन्यथा धर्मधर्मिणोरपि स्वेन सम्बन्धतापत्त्या सम्बन्धमात्रलोपापत्तेः। अथ तयोस्सम्बन्धान्तरं प्रतीयते, तस्य तु न प्रतीयत इति

नारायणी।

द्धः सम्बन्धः, तत्र समवायो न स्वेन सम्बद्धः, स्वेन स्वं वर्तत इति प्रतीत्यभावात्, नापि सम्बन्धान्तरेण, तस्य तस्यापि सम्बन्धान्तरापेक्षायामनवस्थापत्तेरिति संक्षेपः। यद्यात्मा वस्तुतः कर्तृत्वादिमान्स्यात्तदा तैः सह धर्मधर्मिभावो निर्वचनार्हः स्यादिति तर्कान्तरमाह—भेदेनाभेदेनेति। भेदेन आत्यन्तिकभेदेन, अभेदेन-भेदसहिष्णुनाऽभेदेन ऐक्येन वा, धर्मधर्मिभावानुपपत्तेः-कर्तृत्वादीनां धर्मत्वस्य आत्मनो धर्मित्वस्यासम्भवात्। अत्यन्तभेदनिबन्धनस्तादात्म्यैक्यनिबन्धनो वा धर्मधर्मिभावो न सम्भवतीति यावत्। तथाहि-तौ यद्यत्यन्तं भिन्नौ तदा हिमवद्विन्ध्ययोरिव धर्मधर्मिभावो दूरापास्तः, यदि भिन्नाभिन्नौ तदाऽऽत्मनः कूटस्थत्वव्याघातः, परिणामपरिणामिनोरेव तत्सम्भवात्; यद्यैक्यं तदा 'घटो घट' इतिवद्धर्मधर्मिभावेन न व्यपदेशार्हौ ऐक्ये तदसम्भवात्। न च राहोः शिर इतिवद्भविष्यतीति वाच्यम्। अनिर्मोक्षप्रसङ्गस्योक्तत्वादिति संक्षेपः। एतेन सम्बन्धानिरूपणे घटो नील इत्यादिवदहं कर्तेत्यादि प्रमोपपत्तेर्भ्रमवार्ता न युक्तेति निरस्तम्। अविकारित्वेनात्मनस्तद्वैषम्यात्। आत्मा यदि कर्तृत्वादिधर्मवान्स्यात् तदा कालत्रयाव्यभिचारितद्भासकज्ञानस्वरूपो न स्यादिति मूलीभूतान्वयव्यतिरेकनिश्चयसाधनायाह—

ध्वंसप्रागभावसमवायज्ञानत्वजात्याद्यभ्युपगमे गौरवात्, एकत्वाभ्युपगमे चातिलाघवात्, घटज्ञानं पट-

न्यायरत्नावली ।

चेत्, सत्यम्, प्रतीयमानमनुपपन्नं मिथ्यैवेति भावः। 'आत्मा यदि कर्तृत्वादिधर्मकस्स्यात् तदा कर्तृत्वादिधर्मविशिष्टस्य तस्य ज्ञानरूपत्वन्न स्यादि'ति तर्के 'आत्मा ज्ञानरूपो न भवत्येव तस्य नित्यत्वेनोत्पत्तिनाशवत्त्वेनानुभूयमानज्ञानरूपत्वासम्भवात्' इतीष्टापत्तिं निरस्यति—ज्ञानेत्यादि। अनित्यत्वपक्षे—अनित्यत्ववादितार्किकादिमते। तत्तद्व्यक्तीत्यादि। तत्तज्ज्ञानव्यक्तयस्तासां भेदध्वंसप्रागभावाः, समवायः, ज्ञानत्वजातिः, आदिपदेन तज्ज्ञानतद्ध्वंसेषु अनन्तकारणानीत्येतेषामनन्तानां स्वीकारे गौरवादित्यर्थः। एकत्वाभ्युपगमे-एकैव ज्ञानव्यक्तिः सर्वज्ञेयविषयिकेति स्वीकारे, अतिलाघवात्—आत्मन एव ज्ञानस्वरूपत्वसम्भवेन ज्ञानस्वरूपस्याप्यकल्पनीयत्वेनातिलाघवात्। ननु घटज्ञानं न पटज्ञानमिति भेदप्रतीतेः कथमेकं ज्ञानं सर्वस्येत्यत आह— घटज्ञानमित्यादि।

नारायणी ।

ज्ञानेति। ज्ञानानित्यत्वपक्षे—आत्ममनःसंयोगादिना ज्ञानमुत्पद्यते तच्च क्षणिकमिति पक्षे। तत्तद्व्यक्तीति। तत्तज्ज्ञानव्यक्तयः तासां भेदाः ध्वंसाः प्रागभावाः समवायः ज्ञानत्वजातिः आदिपदेन ज्ञानकरणतत्सम्बन्धादिकं चेत्येतेषां स्वीकारे गौरवादित्यर्थः। एकत्वाभ्युपगमे-सर्वपदार्थगोचरैकैव ज्ञानव्यक्तिरिति स्वीकारे। अतिलाघवात्-तस्या एवात्मत्वाङ्गीकारेण धर्म्यन्तरकल्पनातोऽतिलाघवात्। ननु यदि सर्वविषयमेकमेव ज्ञानं का गतिस्तर्हि घटज्ञानं पटज्ञानाद्भिन्नमिति ज्ञानभेदप्रतीतेस्तत्राह—घटज्ञानमिति। घटज्ञानं पटज्ञानमित्यादौ य उपाधिभेदः अवच्छेदकवृत्तिविशेषः तत्पुरस्कारेण तद्वैशिष्ट्येन ज्ञानभेदप्रतीतेः—घटज्ञानं पटज्ञानाद्भिन्नमिति घटमठादिनाऽऽकाशस्येव स्वरूपज्ञानस्य भेदप्रतीतेः। तथा च वस्तुतस्तत्र प्रमाणजन्यवृत्तीनां धात्वर्थरूपाणामेव भेदो विषयो न स्वरूपज्ञानस्य अनुव्यवसायस्थानीयस्य तस्य लाघवादेकत्वाभावः।

ज्ञानमित्युपाधिभेदपुरस्कारेणैव ज्ञानभेदप्रतीतेः, स्वतस्तु ज्ञानं ज्ञानमित्येकस्वरूपावगमात्, तदुत्पत्तिविनाशप्रतीत्योश्चावश्यकल्प्यविषयसम्बन्धविषयतयाप्युपप-

न्यायरत्नावली।

इत्युपाधिभेदपुरस्कारेणेति। धर्मिप्रतियोगिरूपोपाध्योरित्थंभूतौ घटविषयकत्वपटविषयकत्वरूपौ यौ भेदौ विशेषौ तत्पुरस्कारेण तदुल्लेखनेनेत्यर्थः। एवकारार्थं स्फुटयति—स्वत इति। उपाधिपुरस्कारं विनेत्यर्थः। ज्ञानं ज्ञानमित्येकरूपावगमात् ज्ञानमित्याकारकसर्वप्रत्ययैरेकस्यैव ज्ञानस्वरूपस्य विषयीकरणात्, तुशब्देन तज्ज्ञानव्यक्तिरेतज्ज्ञा(१)नव्यक्तिभिन्नेत्युपाध्यपुरस्कृतप्रत्ययो नास्तीत्युक्तम्। ननु ज्ञानस्य उत्पत्तिनाशप्रत्ययात् कथमात्मरूपता तत्राह—तदुत्पत्तीत्यादि। विषयसम्बन्धेति। विषयज्ञानोभयसम्बन्धेत्यर्थः। विषयज्ञानयोस्सम्बन्धमविषयीकृत्य 'ज्ञानमुत्पन्नन्नष्टमि'ति प्रत्ययस्यानुदयात् ज्ञानोत्पत्त्यादिप्रत्यये ज्ञानविषयसम्बन्धविषयकत्वमवश्यं कल्प्यम्, तथा च 'घटज्ञानमुत्पन्नन्नष्टमि'ति

नारायणी।

एवकारार्थमाह—स्वत इति। उपाधिपुरस्कारं विनेत्यर्थः। एकरूपावगमात्-एकाकारेणावभासमानत्वात्। तथा चात्रायं प्रयोगः 'घटज्ञानं पटज्ञानात्स्वतो न भिद्यते उपाधिपरामर्शमन्तरेणागृह्यमाणभेदवत्त्वाद्गगनवत्, एकस्या एव संविदो गगनस्येवोपाधिभेदेन भिन्नव्यवहारोपपत्तौ स्वतस्तद्भेदकल्पनायां गौरवमिति दिक्। (२)+ज्ञानव्यक्तेरेकत्वादेव+भेदप्रतीतिवदुत्पत्तिविनाशप्रतीतिरप्यन्यथासिद्धैवेत्याह—तदुत्पत्तीति। ज्ञानमुत्पन्नं नष्टमिति ज्ञानोत्पत्तिविनाशप्रतीत्योस्त्वित्यर्थः। अवश्यकल्प्येति। अवश्यकल्प्यो यो विषयस्य ज्ञानेन सह सम्बन्धः विषयविषयिभावप्रयोजकः साक्षिणि विषयाकारवृत्तिप्रतिविम्बितत्वरूपः विषये प्रतिबिम्बाश्रयवृत्तिवैशिष्ट्यरूपस्तद्विषयतया विनाशित्वेन तद्विषयकत्वेन उपपत्तेः—चरितार्थत्वात्। तादृशसम्बन्धसत्त्व एव 'साक्षात्करो-

(१)—रेकज्ञानेति पाठः प्रामादिको गपुस्तके।
+…+(२) चिह्नितः पाठो नास्ति खपुस्तके

न्यायरत्नावली ।

धीरुपपद्यते, 'अयमिदानीं शिखी जातः, अयं शिखी नष्ट' इति धीवत् विशेषणोत्पत्तिनाशविषयकत्वात् । तथा हि प्रत्यक्षज्ञानस्थले यावन्मनोऽवच्छिन्नचिता घटादेस्सम्बन्धस्तिष्ठति तावदेव 'घटमहं साक्षात्करोमी'ति व्यवहारात्, तादृशसम्बन्धोत्पत्तिनाशावेव 'घटप्रत्यक्षमुत्पन्नन्नष्टमि'ति धीविषयौ। स च सम्बन्धो वृत्तेः चिदुपरागार्थत्वपक्षे मनोऽवच्छिन्नचिति घटादेः स्वावच्छिन्नवृत्तिप्रतिबिम्बितत्वम् । आवरणनाशार्थत्वपक्षे स्वनिष्ठस्याज्ञानविषयत्वस्य प्रयोजकं यत् स्वावच्छिन्नवृत्त्यादिकन्तद्विशिष्टत्वम्(१) । 'अर्थविवेचनज्ञानामी'तिधीस्थले घटादिविषयकस्यासत्त्वापादकाज्ञानस्य आश्रयत्वाभावः । यावन्मनोऽवच्छिन्नचितिः तावदेव घटादि जानामीति व्यवहारात् तादृशाभावरूपस्य घटादिसम्बन्धस्य उत्पत्तिनाशावेवोक्तधीविषयौ, असत्त्वापादकाज्ञानाश्रयत्वाभावविशिष्टचितः स्वाकारवृत्तिप्रतिबिम्बितचितस्तादृशाज्ञानाविषयकत्वप्रयोजकविशिष्टचितो वा जानात्यर्थत्वेनोक्तव्यवहारे उक्ताभावस्य विशेषणत्वात् । ननूक्ताभावोऽत्यन्ताभाव एव, अज्ञाननाशो हि न ज्ञानेन जन्यते, किन्तु ज्ञानम् अज्ञानतत्कार्यविरोधीत्युक्तम् तथा च कथं तस्योत्पत्तिविनाशाविति चेत्, सत्यम् । तथापि तत्तत्कालस्योत्पत्तिविनाशसम्भवेन तत्तत्कालविशिष्टाधिकरणात्मकविशेषणतासम्बन्धविशिष्टरूपेण उक्ताभावस्य उत्पत्तिनाशसम्भवात् तदतिरिक्तनित्यविशेषणतादेरभावीयसम्बन्धत्वपक्षे तत्तत्कालावच्छिन्नरूपेण तस्य तत्सम्भवात्। स हि सम्बन्धो नित्योऽपि प्रतियोगिमति देशे प्रतियोगिसम्बन्धानवच्छेदककालावच्छिन्न एव, तथा च घटाद्याकारमनोवृत्तिकाल एव घटाद्यज्ञानाभावसम्बन्धस्य प्रमातरि

(१)—इति विवेचनमिष्यते इदं जानाति साक्षात्करोति इत्यर्थविवचने जानामि॰ इति घपुस्तके पाठाधिक्यम् ।

न्यायरत्नावली ।

स्वीकारात्, तत्कालावच्छिन्नरूपेण तदुत्पत्त्यादिसम्भवः। सुखादेरपि विद्यमानत्वदशायामेव प्रमातर्यज्ञानाभावस्वीकारात् तत्कालावच्छिन्नस्य तदभावस्य उत्पत्त्यादिसम्भवः । घटादिकार्यं प्रति जीवस्योपादानत्वपक्षे घटादौ विद्यमाने जीवतादात्म्यस्य तदा सदा सत्त्वात् 'सदैव घटादिकं जानामी'ति प्रत्ययापत्तिः, विद्यमानसुखादाविव भासकतानियामकतादात्म्यरूपस्य जीवोपरागस्य सत्त्वात्, अतोऽसत्त्वापादकाज्ञानं तादृशप्रत्ययविरोधिघटाद्यवच्छेदेन स्वीक्रियते । तथा चोक्ताज्ञानाविषयत्वघटित एव जानात्यर्थः, न तु घटादितादात्म्यापन्नजीवचित् अतो नोक्तानुपपत्तिः । यदा तु ब्रह्मैव घटाद्युपादानं तदा उक्ततादात्म्यास्वीकारात् असत्त्वापादकाज्ञाने मानाभावात् तदविषयत्वघटितो जानात्यर्थो न सम्भवतीति घटाद्याकारवृत्तिप्रतिबिम्बितश्चैतन्यं घटादिज्ञानम्, सुखादिप्रतिबिम्बितं सुखादिज्ञानम् । न च जीवस्य जगदुपादानत्वपक्षेऽप्युक्ताज्ञाने मानाभावः, घटाद्याकारवृत्तिप्रतिबिम्बिता चित् घटादिज्ञानमित्यादेर्वक्तुं शक्यत्वात् इति वाच्यम्(१)। जीवोपादानस्य वाचस्पतिसम्मतत्वेन सिद्धान्तबिन्दावुक्तत्वात् । वाचस्पतिमते च वृत्त्यादौ चित्प्रतिबिम्बास्वीकारात् आवरणभङ्गार्थत्वमेव वृत्तेस्स्वीक्रियते, न तु प्रतिबिम्बघटितापरागार्थत्वम् । यदि च वाचस्पतिमतेऽपि चिदुपरागो वृत्तेः प्रयोजनम् अन्यथा तन्मते पल्लवाज्ञानस्वीकारे त्वावरणभङ्गस्य प्रयोजनत्वसम्भवेऽपि तदस्वीकारपक्षे प्रयोजनाभावात्, तदा विषयावच्छिन्नचिति जीवचितोर्भेदनाश एव प्रयोजनम् वृत्तेरिति वाच्यम्, सोऽयं वृत्तेरभेदाभिव्यक्त्यर्थत्वपक्षः । असत्त्वापादकाज्ञानास्वीकारपक्षे जीवचैतन्यस्य घटादिना तादात्म्यस्वीकारपक्षे च घटाद्याकारवृत्तिप्र-

(१) अत्र 'इति वाच्यम्' इति पाठस्त्रुटितो गपुस्तके ।

त्तेः, उपाधिपरामर्शमन्तरेण स्वत एव घटात् घटान्तरस्य भेदप्रतीतेः, तत्प्रतिबन्दिग्रहासम्भवात्, आका-

न्यायरत्नावली।

तिबिम्बितरूपेण सुखादिप्रतिबिम्बितरूपेण च चित उत्पत्त्यादिसम्भवात्। चित्प्रतिबिम्बानङ्गीकर्तृवाचस्पतिमते तु वृत्तिविशिष्टरूपेण सुखादिविशिष्टरूपेण च चित (१)उत्पत्त्यादिव्यवहार इति भावः। नन्वुपाधिविशिष्टरूपेण भेदमादाय भेदबुद्धिमुपपाद्यैकत्वसमर्थने घटादावप्येकत्वं स्यात्तत्राह—उपाधीति। तत्तद्देशकालाविशिष्टत्वरूपोपाधीत्यर्थः। परामर्शमुल्लेखमन्तरेण (२)विना। स्वतः-तत्तद्घटव्यक्तित्वाभ्याम्, तत्प्रतिबन्दिग्रहासम्भवात्—घटादेरप्येकत्वमस्तु भेदधीस्त्वौपाधिकभेदेन उपपादनीयेति प्रतिद्वन्द्विन उपादानासम्भवात्। ननु तथापि पुरुषभेदेन ज्ञानं वाच्यम् चैत्रीयं ज्ञानं न मैत्रेऽस्तीत्यादिप्रत्ययात्तत्राह—आकाशेत्यादि। 'घटाकाशं पटे नास्ति,

नारायणी।

मी'त्यादिप्रतीतेः, असत्त्वे चाप्रतीतेस्तादृशसम्बन्धनाश एव लाघवात्तादृशप्रतीत्योर्विषय इति भावः। अपिना वृत्तिनाशसमुच्चयः। नन्वेवं घटादेरपि 'स घट एतद्घटाद्भिन्न' इति तत्तेदन्तोपाधिपरामर्शेनैव भेदप्रतीतेः स्वरूपत एकत्वमस्तु तत्राह—उपाधीति। तत्तद्व्यक्तिस्वरूपतत्तादेर्वक्ष्यमाणरीत्या स्वरूपत्वात्तदतिरिक्ततत्तद्देशकालविशिष्टत्वरूपोपाध्युल्लेखं विनेत्यर्थः। स्वत एव—तत्तद्व्यक्तित्वाभ्यां, भेदप्रतीतेः—भेदप्रत्यक्षात्। तत्प्रतिबन्दिग्रहासम्भवात्—ज्ञानैकत्वप्रतिबन्दिनो घटादेरेकत्वस्य ग्रहासम्भवात्, घटादीनां भेदप्रतीतेरुपाधिपरामर्शविषयकत्वं विनाप्युपपत्तेर्ज्ञानभेदप्रतीतिसमकक्षत्वाभावादिति संक्षेपः। स्वमते प्रतिबन्दिशङ्कामपाकृत्य परमते तामाह—आकाशेति। घटमठाद्युपाधिपुरस्कारेणैव भिन्नतया प्रतीयमानस्य वस्तुतः स्वतो भेदाङ्गीकारे घटाकाशो

(१)—चितः उत्पत्त्यादिसंभवाच्च घटसुखादिज्ञानस्य उत्पत्त्यादि० इत्यधिको घपुस्तके पाठः।

(२) अन्तरेण नाना इति गपुस्तके पाठः प्रामादिकः। घपुस्तके तु परामर्शमुल्लेखं स्वतस्तु इत्यादिः पाठः।

शकालदिशामपि नानात्वापत्तेश्च, कर्तृत्वादेर्वास्तवत्वे-

न्यायरत्नावली।

तद्घटकाल एतद्घटकालो न, प्राची न प्रतीची' इत्यादिप्रत्ययैराकाशादिस्वरूपभेदो विषयीक्रियताम् । अथ तत्र घटकालोपाधिदिगुपाधिविशेषविशिष्टरूपेण भेदो विषयस्तर्हि प्रकृतेऽपि चैत्रीयत्वादिविशिष्टरूपेणाभावो विषय इति न ज्ञानं नानेति भावः । ननु 'न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वा' दित्यादिश्रुत्या घ्राणजमनोवृत्त्यादिसामर्थ्यरूपघ्रात्यादेरविनाशोक्तेः आत्मनः कृत्यादिजननशक्तिरूपकर्तृत्वादेर्ज्ञानानुच्छेद्यतया सत्यत्वेन कथमात्मनः पारमार्थिकत्वेन धर्माभाववत्त्वम् तत्राह—कर्तृत्वादेरित्यादि । अनिर्मोक्षेति । 'विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः' इत्यादिश्रुत्या सर्वनामरूपोच्छेदस्य ज्ञानाधीनतया बोधितस्य त्यागेत्यर्थः । तथा च न हीत्यादि(१)श्रुतिर्घ्राणेन्द्रियाद्यभिव्यक्तचित्स्वरूपानाशबोधिका, अत एव 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रे' दित्याद्युत्तरवाक्येन चिदन्यस्य विषयतदाकारवृत्तितत्साधनेन्द्रियाभावेन घ्राणजप्रत्यक्षाभावो न तु चिदभावादिति उक्तमिति भावः । अथवा कर्तृत्वादिधर्मोत्पत्तिनाशाभ्यामात्मन उत्पत्याद्यावश्यकत्वे कथं नित्यज्ञानरूपता तत्राह—कर्तृत्वादेरिति । तथा च मिथ्याधर्मोत्पत्त्या-

नारायणी।

मठाकाशाद्भिन्नः, पूर्वकालो नोत्तरकालः, प्राची न प्रतीचीत्यादिप्रत्ययैराकाशकालदिशामपि स्वरूपतो नानात्वापत्तेरित्यर्थः । ज्ञानैकत्वनित्यत्वे प्रसाध्य निर्धर्मकत्वसाधकं 'यदि वस्तुतः कर्तृत्वादिरूपधर्मवान्स्यात्तदा प्रागभावासहवृत्तियावद्गुणनाशस्य धर्मिनाशनान्तरीयकत्वात्कर्तृत्वादेरनिवृत्त्या अशेषगुणनिवृत्तिरूपमोक्षभागी न स्यादि'ति तर्कान्तरमाह—कर्तृत्वादेरिति । कृतिमत्त्वादेरित्यर्थः। आदिपदेन प्रमातृत्वभोक्तृत्वादेः परिग्रहः । अनिर्मोक्षेति । अशेषविशेषगुणनिवृत्तिरूपमोक्षस्यासम्भवप्रसङ्गात् । स्वप्रकाशसुखरूपत्वान्नित्य इत्युक्तम्, तत्र हेतुतावच्छेदकं स्वप्रकाशत्वं

(१)—श्रुतिः घ्राणेन्द्रियादि० इत्यादिः पाठः घपुस्तके ।

ऽनिर्मोक्षप्रसङ्गात्, स्वप्रकाशानभ्युपगमे च जगदान्ध्यप्रसङ्गात्, परमप्रेमास्पदत्वेन च तस्यानन्दरूपत्वात्,

न्यायरत्नावली।

दिना नात्मन उत्पत्त्यादीति भावः। ननु स्वप्रकाशसुखरूपत्वेन नित्यत्वं साधनीयं तत्र 'स्वप्रकाशसुखरूप आत्मा यदि नित्यो न स्यात् तदा मोक्षरूपपरमपुरुषार्थो न स्यादि'ति तर्कोऽनुकूलो वाच्यः, स्वप्रकाशत्वे तु किं साधकम्? तत्राह—स्वप्रकाशेत्यादि। चकारस्तुशब्दार्थे। सुखरूपस्यात्मनो यदि स्वप्रकाशत्वं न स्वीक्रियते, तदा जगतः श्रवणाद्यधिकारिमात्रस्य मोक्षबोधरूपपरमपुरुषार्थादर्शनरूपान्ध्यप्रसङ्गः, द्वितीयाभावेन मोक्षरूपात्मसुखस्य परप्रकाश्यत्वासम्भवात्। अप्रकाशमानसुखस्यापुरुषार्थत्वात्। अथवाऽऽत्मनः स्वप्रकाशत्वास्वीकारे जगत्सु सर्वदृश्येष्वान्ध्यस्याप्रकाशनस्य प्रसङ्गः। अप्रकाशेनात्मचैतन्येन दृश्यप्रकाशनासम्भवात्, प्रकाशान्तराणां कल्पने अनवस्थानादित्यर्थः। आस्तां स्वप्रकाशत्वं सुखरूपत्वे को हेतुः? तत्राह—परमप्रेमास्पदत्वेनेति। चकारस्तुशब्दार्थे, माभूवमिति न, किन्तु भूयासं सदेतिच्छा प्रेमा, सा परमा अन्येच्छानधीना, तद्विषयत्वेनात्मनः सुखरूपतासिद्धेः। असुखे हीच्छा सुखरूपफलेच्छाधीनैव न तदनधीना। यद्यपि सुखरूप आत्मा सिद्धः, तथाप्युत्तरकालसम्बन्धविशिष्टरूपेण तस्य भावित्वेनैवेच्छाविषयत्वम्। ननु सुख इव

नारायणी।

साधयति—स्वप्रकाशेति। आत्मनः स्वकाशत्वानङ्गीकारे जगतो-दृश्यजातस्य आन्ध्यप्रसङ्गात्-व्यवहारानुपपत्तेरित्यर्थः। सर्वस्यापि जगतो मायिकत्वेन जडस्य (१)प्रकाशकत्वासम्भवात्, आत्मनोप्यस्वप्रकाशकत्वेन प्रकाशान्तरसापेक्षस्य प्रकाशकत्वायोगाज्जगद्व्यवहारलोपप्रसङ्गात्। दृश्यजातव्यवहारजनकः स्वतः स्फूर्त्तिमानात्मेति यावत्। हेतुं साधयति—परमेति। स्वत इच्छाविषयत्वेनेत्यर्थः। तस्य-आत्मनः, स्वत-

(१) स्वप्रकाशत्वासंभवादिति खपुस्तके

निर्धर्मकनित्यस्वप्रकाशसुखात्मक एवात्मा-इत्याद्याः। त-स्मात् परिशेषात् भ्रान्तिरियमिति स्थिते तत्कारणमपि

न्यायरत्नावली।

दुःखाभावेऽपि परमप्रेमदर्शनात् दुःखाभाव एव आत्मा किं न स्या-दिति चेन्न। सुखत्वेन ज्ञातत्वमेवोक्तप्रेम्णः प्रयोजकम्, न तु दुः-खाभावत्वेन ज्ञातत्वम्, गौरवात्। तथा च सुखाभिव्यक्तिसाध-नत्वज्ञानेनैव दुःखाभावे प्रेमेति सुखाभिव्यक्तीच्छाधीनोऽयं परम-प्रेमविषय इति परमप्रेमविषयत्वेन दुःखाभावरूपत्वानुमानासम्भव इति भावः। अत्रेदं पर्यवसितम्। (१)धर्मधर्मिभावानुपपत्तेश्चेत्य-न्तं निर्धर्मकेत्यत्र तर्काणां हेतुत्वबोधकम्, नानात्वापत्तेश्चेत्यन्तं तु नित्येत्यत्र, अनिर्मोक्षप्रसङ्गादित्यन्तं तदुभयत्र, परिशिष्टं स्वप्रकाश-सुखरूपत्वे हेतुपरम्। तस्मात्-आत्मनः निर्धर्मकत्वेनात्मनि प्र-तीयमानस्य मनुष्यादितादात्म्यकर्तृत्वादेर्मिथ्यात्वात्। इयम्-अहं मनुष्यः कर्त्ता भोक्तेत्यादिधीः, तत्कारणं-सविषयकभ्रमस्य परि-

नारायणी।

स्त्वम्-अन्यविषयकेच्छानधीनत्वम्। तथा चायं प्रयोगः।'आत्मा सुखस्व-रूपः अन्यविषयकेच्छानधीनेच्छाविषयत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा पुत्रादयः' तदिच्छायाः स्वीयसुखेच्छाधीनत्वात्, आत्मनि तु स्वत इच्छाविषयत्वं 'माभूवं न किन्तु भूयास'मिति स्वानुभवसिद्धमिति सुखरूपतासिद्धिरिति संक्षेपः। फलितमाह—निर्धर्मकेति। उपसंहरति—तस्मादिति। श्रुतियुक्तिभिरकर्तृभोक्तृरूपतालाभादित्यर्थः। परिशे-षात्—(२) स्मृतित्वप्रमातृत्वयोर्बाधात्। इयम्-अहं कर्ता मनुष्य इत्या-दिधीः। तत्कारणमपि—भ्रान्तेः कारणमपि, योग्यं—भ्रमत्वनिर्वाहकं परिणामितासमर्थं च किञ्चिद्भावरूपं कल्पनीयम्-अनुमेयम् 'अहं मनुष्य इत्यादिभ्रमः सोपादानकः कार्यत्वाद्घटवदि'त्याद्यनुमानेनानुमेयमिति भावः। नन्वनुमानप्रमाणसिद्धस्य तस्य प्रामाणिकत्वेन सत्यत्वापत्तेर-

(१) धर्मधर्मिभावापत्तेश्चेति सर्वत्र पाठः स प्रामादिक एव मूले धर्मधर्मिभावानुपप-त्तेश्चेत्यस्यैव सत्त्वात् तथैव ग्रन्थसङ्गतेश्चेति।

(२)—स्मृतित्वप्रमात्वयोर्बाधात् इति खपुस्तके पाठः युक्तश्च।

योग्यं किञ्चित्कल्पनीयम्। कल्प्यमानं च तदद्वितीयात्मनि अध्यस्ततयैव धर्मिग्राहकमानेन सिद्ध्यतीति 'न जानामी'ति साक्षिप्रतीतिसिद्धमनिर्वाच्यमज्ञानमेव तत्। न

न्यायरत्नावली।

णामिकारणम्, योग्यं-परिणामितायोग्यम्। ननु तस्य कल्पनारूपमानविषयत्वेन ससत्वादद्वैतश्रुतिविरोधः तत्राह—कल्प्येत्यादि। यतो अद्वितीयत्वेन श्रुत्यनुमानसिद्ध आत्मनि कल्प्यमानम् अतत्स्वरूपात्मकधर्मिग्राहकमानेन कल्पनारूपेण तदध्यस्तं मिथ्याभूतमेव कल्प्यं भवतीत्यर्थः। इति न जानामीत्यादि। यतः कल्पनया मिथ्यात्वेन सिध्यति, अतोऽनिर्वाच्यं तद्वस्तु अहमात्मानं न जानामीत्याकारसाक्षिसिद्धाज्ञानाभिन्नमेवेत्यर्थः। तस्य साक्षिसिद्धाज्ञानैक्योक्तेः फलमाह—न चेत्यादि। इदम्-उक्तसा-

नारायणी।

द्वैतानुपपत्तिस्तत्राह—कल्प्यमानमिति। श्रुतियुक्तिसिद्धाद्वैतान्यथानुपपत्त्या द्वैतभ्रमकारणतया कल्प्यमानमित्यर्थः। अद्वितीयात्मनि—द्वितीयसामान्याभाववति, धर्मिग्राहकमानेन—अद्वितीयत्वान्यथानुपपत्तिगर्भिततत्कालपनिकानुमानेन, अध्यस्तमेव—प्रतीतिमात्रशरीरमेव, सिध्यति—अनुमितिविषयो भवति। अध्यस्ततयैवेति पाठे तु कल्पितत्वेनैव सिध्यति, कल्पितत्वप्रकारकानुमितिविषयो भवतीति यावत्। अद्वैतश्रुत्या सत्यत्वबाधादिति भावः। न केवलमानुमानिकं किन्तु प्रत्यक्षसिद्धमपीत्याह—न जानामीति। भ्रममात्रशरीरत्वात् जानामीत्याकारसाक्षिरूपप्रतीतिविषयसदसद्भिन्ना(१)ज्ञानमेव तत्कल्प्यमानम्, तथाच प्रत्यक्षानुमानयोः एकविषयकत्वे लाघवान्न जानामीति पदम् अधर्मादिपदवद्भावपरमेव नाभावपरमिति भावः। ज्ञानाभावसमनियतस्य ज्ञानाभावरूपतायामपि लाघवमस्तीत्याशङ्क्य प्रत्यक्षप्रतीतेरभावपरत्वं कण्ठतो वारयति—नचेदमिति। इदम्-उक्तप्रतीतिसिद्धमज्ञानम्, अभावरूपम्-ज्ञानाभावरूपम्, ज्ञानस्य-ज्ञानत्वेन प्रतिपादितसाक्षिव्यक्तेः, नित्यत्वेन-ध्वंसप्रागभावाप्रतियोगित्वेन, तदभावानुपपत्तेः-स्वरूपज्ञानाभावस्यासम्भवात्।

(१) सदसद्भिन्नाज्ञानाभिन्नमेव तत्कल्प्यमानमित्यर्थः।

चेदमभावरूपम् । ज्ञानस्य नित्यत्वेन तदभावानुपपत्ते-रित्युक्तत्वात् । धर्मिप्रतियोगिज्ञानाज्ञानाभ्यां व्याघा-

न्यायरत्नावली।

क्षिसिद्धम् अज्ञानम्—अभावरूपम्-आत्मज्ञानाभावरूपम् । ज्ञान-स्य-आत्मव्यवहारप्रयोजकसाक्षिरूपस्य । (१)तदभाव इति । आत्मव्यवहारप्रयोजकज्ञानाभावेत्यर्थः । नन्वात्मविषयकज्ञानाभा-वरूपं तत्, साक्षिज्ञानन्तु न तथा तत्राह—धर्मीत्यादि । 'आत्मा-नमहं न जानामीति' प्रत्यये आत्मज्ञानाभावस्याहमर्थे धर्मिणि विषयी-करणे अभावबुद्धौ धर्मिप्रतियोगिज्ञानयोर्हेतुत्वात् पूर्वं तयोस्सत्त्वे अहमर्थे आत्मज्ञानाभावस्यासत्त्वादुक्तप्रत्ययस्याप्रमात्वापत्तिः । पूर्वं तयोरसत्त्वे कारणाभावादुक्तप्रत्यय एव नोत्पद्यते । अथ तयो-र्नाशोत्पत्तिक्षणे उक्तप्रत्ययोत्पत्तौ नोक्तदोष इति चेन्न । तादृशज्ञा-नयोस्स्वरूपसतोरेवाभाववत्त्वधीप्रतिबन्धकत्वेन उक्तक्षणेऽपि तद-नुपपत्तेः । तदुक्तं—'न हि जानन्नेव न जानामीति प्रत्येती'ति । उक्तप्रत्ययस्य धर्मिप्रतियोगिविषयकत्वतदभावाभ्यां व्याघातस्या-परिहाराच्च । यथा ह्युक्तप्रत्ययस्य उत्पत्तिक्षणे पूर्वोत्पन्नयोस्तयो-

नारायणी ।

अस्तु तर्हि वृत्तिज्ञानाभाव एव तद्विषयस्तत्राह-धर्मीति । धर्मी अहमर्थः प्रतियोगिज्ञानं तयोर्ज्ञानसत्त्वे ज्ञानसामान्याभावस्यासिद्धतया तादृशप्रत्य-यस्याप्रमात्वप्रसङ्गो व्याघातः । ज्ञानासत्त्वे तु न जानामीति ज्ञानाभावप्रमा-या अनुत्पत्तिप्रसङ्गो व्याघातः । धर्मिप्रतियोगिनोर्ज्ञानस्याभावबुद्धिक-रणत्वात् तयोर्ज्ञानं विना तादृशप्रमोत्पत्तेरसम्भवादित्यर्थः । ननु सामा-न्यतो न 'जानामीत्यहमज्ञ' इत्यादिप्रतीतिर्नास्त्येव किन्त्वहमात्मानं न जानामी'त्याद्याकारिकैव, तस्यांश्चात्मादिज्ञानप्रागभाव एव विषयो ला-घवादिति नाज्ञानसिद्धिरिति चेन्न । यथाकथंचिद्यत्किञ्चिदात्मज्ञान-व्यक्तिसत्त्वे सामान्यतो ज्ञानप्रागभावविषयकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् ।

(१) ज्ञानाभाव इति प्रतीकः सर्वत्र दृश्यते, मूलेऽत्रैतादृशं पदं न विद्यते अतःतदभा-वानुपपत्तेरिति पदघटकस्य तदभाव इत्यस्य ज्ञानाभाव इति प्रतीको बोध्यः ।

तापत्तेः। नापि भ्रमसंशयतत्संस्कारपरम्परारूपम्। अ-परोक्षत्वात्, अतीतानागतभ्रमसंशयतत्संस्काराणा(१)-

न्यायरत्नावली।

स्मत्त्वे तयोरात्मविषयकत्वेन व्याघातः, तथोक्तप्रत्ययस्यैव धर्मि-प्रतियोगिनोरात्मघटितत्वेनात्मविषयत्वात् वर्तमानमात्मज्ञानाभावं गृह्णतः उक्तप्रत्ययस्यानुपपत्तिरिति भावः। ननु निर्विकल्पकात्मज्ञा-नाभावरूपत्वे नोक्तदोष इति चेन्न। तादृशस्य आपातात्मज्ञानस्य स-त्त्वेऽप्यात्माज्ञानप्रत्ययोदयात्। न च मुक्त्युपधायकज्ञानाभावरूपत्वे न दोष इति वाच्यम्। मुक्त्युपधायकत्वमविषयीकुर्वतोऽपि तादृशप्र-त्ययस्योत्पत्तेः। नापीति। इदमित्यनुषज्यते। भ्रममात्रं नाज्ञानम्, दिनद्वयादिवर्तिन एकाज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञानात्, अतो भ्रमादिपर-म्परारूपं वाच्यम्, तथा च नापरोक्षत्वसम्भव इत्याशयेनाह-- अतीतेत्यादि। ननु सति भात्यपि आत्मनि 'नास्ति न भाती'-त्यादिव्यवहारोत्पादकत्व'मस्ति भाती'तिव्यवहाराभावप्रयोजकत्व-श्चावरणात्मकत्वम्, तच्च भ्रमादेरपि सम्भवति, अपरोक्षं तु अतीता-नागतांशे न स्वीक्रियते, किन्तु वर्तमानभ्रमाद्यंशे अत आह--

नारायणी।

विशेषज्ञानत्वग्रहं विनापि तादृशप्रतीतेर्विशेषव्यक्तिप्रागभावविषयक-त्वस्याप्ययोगादित्यन्यत्र विस्तरः। साङ्ख्यमतं निराकरोति नापीति। इदमित्यनुषज्यते। भ्रममात्रं नाज्ञानं दिनद्वयादिवर्त्तिन एकाज्ञानस्य प्र-त्यभिज्ञानात् अतो भ्रमादिपरम्परारूपं वाच्यं तथाच नापरोक्षतया प्रती-यत इत्याशयेनाह—अतीतेति। ज्ञातुमशक्यत्वात्—न जानामीत्यपरो-क्षतया ग्रहीतुमशक्यत्वात्। ननु 'सुरभि चन्दनम्'इत्यादौ सौरभांशे परोक्षमपि चन्दनांशेऽपरोक्षं यथा तथा न जानामीत्यादिकमप्यतीता द्यंशे परोक्षमपि वर्तमानाद्यंशेऽपरोक्षमतो ज्ञानस्य भ्रमाद्यात्मकत्वे न कि-

(१) परोक्षत्वेनेति कखपुस्तकयोः पाठः तथात्वे पूर्वेणान्वयः, अपरोक्षत्वेनेति पाठ उत्तरपदे इति द्वयोः पाठयोः साधुत्वम्।

ञ्चापरोक्षत्वेन ज्ञातुमशक्यत्वात् । आवरणात्मकत्वात् भ्रमाद्युपादानत्वाच्च आत्मनो निर्विकारत्वात् । अन्तः-

न्यायरत्नावली ।

भ्रमाद्युपादानत्वादिति । नन्वात्मैवोपादानमास्ताम् तत्राह— आत्मन इति । निर्विकारत्वादपरिणामित्वात् । तथा च परिणामिकारणमनात्मैवेति भावः । तज्जन्यत्वादिति । तथा च प्राथमिककार्यादिसर्वकार्येषु एकमेव परिणामिकारणं कल्प्यते, (१)ईश्वररूपैककर्तृवत् । न च प्रतिसर्गं प्राथमिककार्येषु निमित्तकारणतया क्लृप्तानां संस्काराणामेव परिणामित्वसम्भवादतिरिक्तैककारणकल्पने गौरवमिति वाच्यम् । वीक्षणरूपाद्यकार्ये वीक्षणसंस्कारो वा परिणामिकारणम् ईश्वरप्रसाद(२)रूपमदृष्टं वेत्यत्र विनिगमकाभावात् । ननु वीक्षणत्वावच्छिन्नं प्रति निमित्ततया नादृष्टं क्लृप्तम् ,किन्तु ईक्षणाकाशादिसाधारणरूपावच्छिन्नं प्रति, तथा च तादृशरूपविशिष्टे अदृष्टस्य परिणामित्वमस्तु, वीक्षणत्वावच्छिन्नं प्रति निमि-

नारायणी ।

मपि बाधकमित्यत आह—आवरणेति । 'अज्ञानेनावृतं ज्ञान'मित्यादिना प्रतीयमानावरणशक्त्यात्मकत्वादित्यर्थः । अनेकभ्रमादिव्यक्तीनामावरणात्मकल्पनाऽपेक्षयाऽऽवरणात्मकत्वेनैकव्यक्तिकल्पनाया एव लघीयस्त्वादिति भावः । ननु कल्प्यापेक्षया क्लृप्तभ्रमवृत्तीनामेव विरुद्धव्यवहारजनकत्वरूपावरणात्मत्वमुचितं धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया एव लघुत्वादित्यत आह—भ्रमेति । भ्रमादेः कार्यत्वेन सोपादानत्वावश्यकत्वात् तदुपादानभूतैकव्यक्तिरेवाज्ञानपदवाच्या लाघवात् इति भावः । नन्वात्मैवास्तूपादानं तत्राह—आत्मन इति ।। अनात्मनामधिष्ठानभूतेत्यर्थः । निर्विकारत्वात्--अपरिणामित्वात् । तर्ह्यन्तःकरणमेवोपादानमस्तु भ्रमाश्रयतया तस्य क्लृप्तत्वादिति तत्राह--अन्तः करणादेरिति । आदिपदेन प्राथमिकवीक्षणरूपकार्यपरिग्रहः । जन्यत्वात्--कार्यत्वात् । तथाच प्राथमिककार्येष्वपि वीक्षणान्तःकरणादिषु सर्वेषु परिणामिकारणतयाऽवश्यकल्पनीयाज्ञानस्य भ्रमादिष्वपि परिणामित्वं कल्प्यते लाघ-

(१)—एककर्तृकत्ववत् इति घपुस्तके । (२)—प्रसादकोपरूपमित्यादिः घपुस्तके ।

करणादेश्च (१)तज्जन्यत्वात् 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढा'-

न्यायरत्नावली ।

त्तया नियतपूर्ववृत्तित्वेन क्लृप्तस्य ईक्षणसंस्कारस्यैव परिणामितयाऽनन्यथासिद्धत्वं लाघवात् कल्पयितुं युक्तमिति चेन्न । गुणत्रयात्मकमज्ञानं सृष्टिकाले वीक्षणरूपेणाकाशादिरूपेण विष(२)-यभूतगुणत्रयात्मकेन परिणतं प्रलयकाले समीभूतगुणत्रयात्मकेन ईक्षणाकाशादिसूक्ष्मावस्थारूपेण परिणमते । तथा चावस्थाभेदेऽप्यवस्थावतोऽनुगतरूपस्य न भेदोऽस्ति । पूर्वं तादृशमिदानीमीदृशं जातमिति प्रत्यभिज्ञानात्, 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' 'भूतग्रामस्स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते' इति श्रुतिस्मृतिभ्याञ्च । ततश्च नानासर्गीयेक्षणेषु यदनुगतं सत्त्वगुणस्वरूपं, तस्यैव तेषु सात्त्विककार्यान्तरेषूपादानत्वं युक्तम् । तज्जातीयकार्यं प्रति अनुगतत्वस्यैव तदुपादानत्वव्यवस्थापकत्वात् । एवं राजसतामसकार्येषु रजस्तमोरूपयोरुपादानत्वं युक्तम् । अत एव गुणत्रयस्वीकारे गौरवात् एकगुणोऽस्तूपादानमित्यपास्तम् । एकगुणस्य सर्वकार्येषु एकस्वरूपेण एकेनानुगत्यभावेन विलक्षणगुणत्रयविशिष्टेषु तादृशगुणानामुपादानत्वावश्यकत्वात् । यत्तु प्रतिसर्गीयवीक्षणादिषु अननुगतं वीक्षणादिसंस्काररूपं तस्य वीक्षणसंस्कारत्वाद्यनुगतरूपेण निमित्तत्वमेव, तस्मात् गुणत्रयरूपमज्ञानमेव सर्वकार्योपादानमिति भावः । उक्तन्यायानुग्राह्यां श्रुतिमाह—देवात्मशक्तिमिति । देवस्य-सृष्ट्यादिक्रीडावतो ब्रह्मणः, स्वाश्रयां—स्वविष-

नारायणी ।

वादिति भावः । बीजाङ्कुरन्यायेनान्तःकरणतत्संकाराणामेव कारणत्वसंभवान्नैकमज्ञानं प्रामाणिकमत आह—देवेति । देवस्य स्वप्रकाशस्य ब्रह्मणः

(१) जन्यत्वात् इति कखपुस्तकयोः ।

(२) विषमीभूतगुणेत्यादि अत्र साधु लक्ष्यते, अग्रे प्रलयकाले समीभूतेत्यादिना तथव ग्रन्थसङ्गतेः । पाठस्तु सर्वत्र विषयभूतेत्यादिरेव ।

मिति गुणवत्त्वश्रुतेश्च 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्, इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, अनूनेन

न्यायरत्नावली ।

यिकाम्, शक्ति-कार्यजननसामर्थ्यरूपां मायाम्, स्वगुणैः-स्वात्मसत्त्वादिगुणैः, निगूढां-घटिताम्। अथवा स्वधर्मैर्वीक्षणाकाशादिसंस्कारैर्विशिष्टाम्। गुणवत्त्वश्रुतेः-गुणत्रयरूपत्वश्रुतेः। अथवेत्यादिव्याख्याने संस्कारवत्त्वश्रुतेः पूर्वं 'किं कारण'मित्यादिप्रश्नमुपन्यस्यते। 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्नि'त्यादिवाक्यस्योक्तत्वात्। कार्यजननोद्यतस्य ब्रह्मणः सामर्थ्यरूपा या माया सर्वकार्येषु कारणम्, सा च त्रिगुणीरूपेत्युक्तम्। अथवेत्यादिव्याख्याने संस्काराश्रयत्वोक्त्या संस्काराणां नोपादानत्वमित्यपि ज्ञापितम्। प्रकृतिं-सङ्कोचकाभावात् सर्वकार्योपादानम्। इन्द्रः-अपरिच्छिन्नत्वेन सर्वोपाधिसम्बन्धात् नानारूपप्राप्तौ प्रभुरात्मा, मायाभिः-अविद्याभिर्हेतुभिः, पुरुरूपः—नानारूप इत्यर्थः, ईयते-ज्ञायते। एकाविद्यापक्षे अदृष्टा-

नारायणी ।

आत्मशक्तिं निजशक्तिं स्वगुणैः स्वावयवात्मकगुणैः सत्त्वरजस्तमोरूपैः निगूढां व्याप्ताम्, अत्र पूर्वार्धे 'किं कारणं ब्रह्मे'त्युपक्रम्य 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्नि'ति। तथाच मायाया एव सकलकारणत्वलाभान्न केवलं कार्याणामेवान्योन्यबीजाङ्कुरन्यायेन कारणतेति संक्षेपः। ननु सा शक्तिरीश्वरज्ञानादिरूपैवास्तु तत्राह--गुणवत्त्वेति। स्वगुणैर्निगूढामिति गुणवत्त्वश्रुत्या न ज्ञानादिरूपा (१)गुणवत्त्वाभावादिति भावः। ननु स्वगुणैरित्यस्य स्वस्य जन्यैर्गुणैर्जीवादृष्टादिभिर्विशिष्टामित्यर्थः, तथाच नाभीप्सितार्थसिद्धिरित्यतः श्रुत्यन्तरमाह—मायामिति। अजामेकामिति श्रुतिप्रदिपादितसत्त्वरजस्तमोगुणात्मिकां मायाम्, प्रकर्षेण करोतीति प्रकृतिः कारणम्, मायिनं मायाश्रयं मायाविषयं वा। नन्वत्रापि मय् ज्ञान इति धात्वनुसारात् ज्ञानात्मिकैव शक्तिरस्त्वित्यतः श्रुत्यन्तरमाह—इन्द्र इति। इन्द्रः परमेश्वरो निरुपाधिः, मायाभिः--सत्त्व-

(१) गुणवत्त्वाभावादिति। ज्ञानस्य परमते गुणत्वेन गुणवत्त्वं न भवति गुणे गुणानङ्गीरादिति भावः।

हि प्रत्यूढाः, नीहारेण प्रावृताः, भूयश्चान्ते विश्वमाया-

न्यायरत्नावली।

दिसहकारिकारणानां नानात्वात् तद्घटितरूपेणाविद्याया नानात्वं बोध्यम्। 'प्रजा अहरहर्ब्रह्म गच्छन्त्यो न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढा' इत्यत्र अहरहस्सुषुप्तौ गच्छन्त्योऽपि स्थूलसूक्ष्मोपाधिलयेन तदाभिमानकृतब्रह्मभेदशून्या अपि ब्रह्म न जानन्ति, हि—यस्मात्, अनृतेन—मिथ्याभूताज्ञानेन, प्रत्यूढाः—आच्छादितस्वरूपका इति व्याख्यातम्। 'न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता' इत्यत्र तमात्मानं न यूयं विदाथ, य आत्मा इमाः प्रजाः जनयामास, कुतो न विद्मः तत्राह—अन्यदित्यादि। अन्यत्—आत्मनो विलक्षणमसद्रूपम्, अन्तरम्—आवारकं व्यवधायकम्—आत्मनि भात्यपि स न भातीति व्यवहारजनकं स भातीति व्यवहारप्रतिबन्धकश्च, बभूव—अनादिकालं व्याप्यास्ति। ननु तस्यानादित्वमिवाविनाशित्वमपि स्यात् तथा च अस्मान् प्रति तदुपदेशो व्यर्थस्तत्राह—नीहारेणेति। तस्माद्यूयं नीहारसदृशेन

नारायणी।

रजस्तमोरूपाभिः शक्तिभिः, पुरुरूपः-बहुरूपः, ईयते-गम्यते ज्ञायत इति यावत्। 'अजामेका'मित्यादिना गुणत्रयात्मिकायाः शक्तेरेवोपक्रमात्। ननूक्तमजामेकामित्यत्र लोहितशुक्लकृष्णशब्दानामिच्छाज्ञानकृतिपरत्वमत आह श्रुत्यन्तरम्—अनृतेति। 'तद्यथा हिरण्यनिधिं विहितमक्षेत्रज्ञा उपर्य्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्ब्रह्म गच्छन्त्यो न तं विन्दन्ती'ति पूर्वार्धम्। अयमर्थः। प्रजाः जीवाः अहरहः सर्वदा सुषुप्तौ ब्रह्म गच्छन्त्योऽपि स्थूलसूक्ष्मोपाधिलयेन तदभिमानकृतब्रह्मभेदशून्या अपि ब्रह्म न जानन्ति हि यस्मात् अनृतेन मिथ्याभूतेनाज्ञानेन प्रत्यूढाः आच्छादितस्वरूपकाः। 'ऋतं ब्रह्म, सत्यं ज्ञान'मिति श्रुतेः तद्भिन्नमज्ञानमनृतम् 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानमि'ति भगवदुक्तेरिति भावः। ननु ऋतशब्दस्य 'ऋतं सत्त्वं तथा धर्मः' इति धर्मशास्त्रे धर्मेऽपि प्रयोगादनृतपदेन तद्भिन्नं दुष्कृतमेव ग्राह्यं तथाच तेनाच्छादिताः प्रतिबद्धाः ब्रह्म न जानन्तीति तत्रार्थोऽतः कथमज्ञानसिद्धिस्तत्र श्रुत्यन्तरमाह—

न्यायरत्नावली ।

तेनान्तरेणाच्छादिताः, तथा च नीहारवदेव तस्य विनाशित्वपा-वारकत्वादिति व्याख्या । 'तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावात् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति'रित्यत्र तस्य — आत्मनः अभिध्यानात्— तत्त्वमस्यादिवाक्यतात्पर्यविषयत्वेन (१)तदनुकूलतर्केण च चिन्तनात् श्रवणमननाभ्यामिति यावत्. योजनात्—योगात् निदिध्यासनादिति यावत्, तत्त्वभावात्—साक्षात्काररूपतत्त्वप्राप्तेश्च, विश्वमायायाः—असत्त्वापादकाभानापादकरूपानेकाज्ञानस्य निवृत्तिः, अन्ते—प्रारब्धभोगान्ते, भूयः—पुनः, देहादिकार्यरूपविश्वमायानिवृत्तिरिति

नारायणी ।

नीहारेणेति । 'न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूवे'ति पूर्वार्धम् । 'जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ती'त्युत्तरार्धम् । अयमर्थः । तमात्मानं यूयं न विदाथ न वेत्थ य इमाः प्रजाः जजान जनयामास, कुतो न विद्मस्तत्राह—अन्यदन्तरं परमात्मनोऽन्यदावरकं बभूव अस्ति, कथं स्वप्रकाशस्यावरकमस्ति--नीहारेणेति । तुषारेणेव सूर्यवदाच्छादिता इत्यर्थः । (२)प्रकाशमपि प्रकाशकस्य वस्तुमाहात्म्यादाच्छादकं भवत्येव अनुभवसिद्धे तर्कानवकाशादित्यर्थः । न केवलमज्ञानेनाच्छादिताः किन्तु अन्येनापीत्याह—जल्प्येति । जल्पनं जल्पिः कुतर्कस्तेनेत्यर्थः । न केवलं तैरेवाच्छादिताः किन्तु कर्मवासनयापीत्याह—उक्थेति । उक्थं कर्म शंसन्तीत्युक्थशासः कर्मकुर्वाणाः सन्तः चरन्ति भ्रमन्ति । अतो बहिर्मुखत्वादात्मस्वरूपं न जानन्तीत्यर्थः । ननु मिथ्याज्ञानवासनैव प्रतिबन्धकत्वेन तत्रार्थोऽस्त्वित्यतः श्रुत्यन्तरमाह—भूय इति । 'तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावादि'ति पूर्वार्धम् । तस्य आत्मनः अभिध्यानात् चिन्तनात् श्रवणमननाभ्यामिति यावत्, योजनात् योगात् निदिध्यासनात्, तत्त्वभावात् साक्षात्काररूपतत्त्वप्राप्तेः, विश्वस्य हेतुभूताया आवरणात्मिकाया मायाया निवृत्तिः । अन्ते प्रारब्धभोगान्ते भूयश्च-

(१) तदनुसारियुक्तिविषयत्वेनेति पाठान्तरं घपुस्तके ।

(२) प्रकाशकस्य=स्वस्याज्ञानादेः प्रकाशकस्य ब्रह्मणः=प्रकाशमपि अज्ञानम् (अज्ञानमिति कर्तृपदाध्याहारः) आच्छादकं भवत्येव 'अहमज्ञ' इति प्रकाशमान एव आत्मनि अज्ञानानुभवात् 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नामे'ति न्यायादित्याशयः ।

निवृत्तिः' इत्यादिश्रुतिभ्यश्च मायाऽविद्या अनिर्वाच्यमनृतं तत्त्वज्ञाननिवर्त्यश्च अज्ञानमेव स्वपराध्यासे कार

न्यायरत्नावली।

व्याख्या। आदिपदेन 'अमूढो मूढ इव व्यवहरन् आस्ते माययैव, अविद्यायामन्तरे वर्तमाना' इत्यादिश्रुतिसङ्ग्रहः। मायाविद्येत्यादि। मायादिरूपमेवाज्ञानं स्वपराध्यासकारणम्। श्रुतिभ्यश्चेति चकारात् पूर्वोक्तकल्पनाया लाघवज्ञानसाक्षिप्रत्यक्षसनाथायाः समुच्चयः। तत्र मायाशब्देन सदसद्विलक्षणत्वरूपानिर्वाच्यत्वस्य निरूपणानर्हविचित्रकार्यजनकत्वस्य लाभः, अनृतादि(१)शब्देना-

नारायणी।

पुनरपि (२)विक्षेपरूपाया निवृत्तिरित्यर्थः। तथाच ज्ञानादज्ञाननाशद्वारा जगन्नाशोक्तेरनाद्यज्ञानमेवावरकं जगदुपादानं सिध्यति उपादाननाशेनैवापादेयनाशसम्भवादिति भावः। ननु निवृत्तिपदेन तरणमात्रं लभ्यते न नाशः 'मायामेतान्तरन्ती' ति भगवदुक्तेः 'तरति शोकमात्मवि'दिति श्रुतेश्च, तरणं वा सम्बन्धमात्रमतो न ज्ञाननाश्यमज्ञानं तत्र सिद्ध्यतीत्यत आह—आदीति। (एवमेवैषा माया स्वाव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा) 'जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवती' त्यादिश्रुतिपरिग्रहः। श्रुतिभ्यश्चेति चकारात् 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः' इत्यादिस्मृतेरज्ञानं विना जीवस्यानवच्छिन्नानन्दाऽप्रकाशानुपपत्तिरूपार्थापत्तेश्च परिग्रहः। तथाच माया न ज्ञानादिरूपा किन्तु ज्ञाननाश्याऽविद्यैव, श्रुत्यैव मायाविद्ययोरेकत्वसमर्थनादिति भावः। तस्मात्तत्तन्मतबाधेन वेदान्तमतसिद्धा मायैव जगदुपादानत्वेन श्रुतिसिद्धेत्याह—मायेत्यादि। सत्त्वादिगुणात्मिका न ज्ञानात्मिका किन्तु अविद्या विद्यानाश्या, अतो न सा साङ्ख्याभिमता प्रकृतिः किन्त्वनिर्वाच्यमज्ञानमेवेत्यन्वयः। तदपि न मिथ्याज्ञानवासनारूपं किन्तु अनृतं सद्भिन्नम्। तदपि न दुष्कृतं किन्तु तत्त्वज्ञाननिवर्त्यं साक्षादधिष्ठानसाक्षात्कारनाश्यमित्यर्थः। कार्यादिकं च नैतादृशं परेषा-

(१) प्रावृतादिशब्देनेत्यादि–गपुस्तके पाठान्तरम्।

(२) विशेषरूपया इति वपुस्तके शोधितोपि पाठः अशुद्ध एव।

णम् । न चात्माश्रयादिदोषप्रसङ्गः । अनादित्वेन (१) तन्निरासात्, अनादित्वेनोत्पत्त्यभावात्, स्वप्रकाशात्मन

न्यायरत्नावली ।

च्छादकत्वरूपाविद्यात्वस्येति भावः । अनादित्वेनेति । आवरणविक्षेपरूपकार्ययोः प्रवाहरूपेणानादित्वात् तत्कारणस्याकार्यत्वरूपमनादित्वं युक्तमिति भावः । ननु तथाप्यज्ञानस्य ज्ञानरूपाध्यासे दोषादिकारणापेक्षणात् आत्माश्रयादिः स्यादेव तत्राह—स्वप्रकाशात्मन इत्यादि । उत्पत्तौ ज्ञप्तौ वा आत्माश्रयादिकं सम्भाव्यते, तत्र ज्ञप्तेरनादित्वेन नाद्यम् । ज्ञप्तेरनादित्वेऽपि यदि स्वप्रकाशत्वं न स्यात् तदा तस्यैव तज्ज्ञप्तिरूपत्वे आत्माश्रयः, द्वयोः परस्परज्ञप्तिरूपत्वे अन्योन्याश्रयः, ज्ञानान्तरापेक्षायामनवस्था स्यात्; स्वप्रकाशत्वे तु न तदिति भावः । एवञ्च स्वपराध्यासे कारणमित्यस्य स्वपराध्यासे स्वान्यपरिणामिकारणानपेक्षमित्यर्थ इति ध्येयम् । चित्प्रतिविम्बाध्यासद्वारा मनसः प्रमातृत्वमिति यदुक्तं तत्र 'ननु अध्यासोऽपि नोपपद्यत' इत्यादिनोद्भावितदोषाणां निरसनं कृत्वा इदानीं तदेव प्रमातृत्वं विस्तरेणोपसंहरति—

नारायणी ।

मिति भावः । पूर्वोक्तात्माश्रयादिदोषं परिहरिष्यन्नाह—न चेति । अनादीति । स्वरूपस्य ज्ञप्तेश्चानादित्वादुभयत्रापि नात्माश्रयादिप्रसक्तिरित्याह—अनादित्वेनेति । अज्ञानस्यानादित्वेनैवेत्यर्थः । तन्निरासात्—आत्माश्रयादिनिरासात् । एतेनोत्पत्तौ तन्निरासः ज्ञप्ताववयाह—स्वप्रकाशेति । स्वप्रकाशसाक्षिण एव तज्ज्ञप्तिरूपत्वात्—अज्ञानाध्यासरूपत्वात् । तथाच तस्याप्यनादित्वान्न तत्राप्यात्माश्रयादिदोषः उभयत्र कारणस्यानपेक्षणादिति भावः । ननु तर्हि न कल्पितत्वमज्ञानस्य जन्यस्यैव रजतादेः कल्पितत्वदर्शनात्, जन्यत्वे चानादित्वभङ्ग इति चेन्न । बाधितत्वरूपकल्पितत्वस्यैव तत्राङ्गीकारात् कल्पितशब्दस्योत्प्रेक्षा मात्रपरत्वादित्यन्यत्र विस्तरः।चित्प्रतिविम्बाध्यासद्वारा मनसः प्रमा-

(१) अनादित्वेनैवेति कखपुस्तकयोः ।

एव तज्ज्ञप्तिरूपत्वात्। तेनाज्ञानाध्यासविशिष्टचैतन्येऽहङ्काराध्यासः। तद्विशिष्टे कामसङ्कल्पादीनामहङ्कारधर्माणामिन्द्रियधर्माणाञ्च काणत्वबधिरत्वक्लीबत्वादीनामध्यासः। इन्द्रियाणां तु परोक्षत्वान्नापरोक्षधर्म्यध्यास

न्यायरत्नावली।

तेनाज्ञानेत्यादि। तेन-अध्यासस्य निर्दोषत्वसमर्थनेन, अज्ञानाध्यासविशिष्टे-अज्ञानप्रतिबिम्बितत्वविशिष्टे, अहङ्काराध्यासः-मनोध्यासः। तद्विशिष्टे-मनोविशिष्टे। इन्द्रियधर्माणामिति। चक्षुषः काणत्वं रूपाद्यग्राहकत्वम्, श्रोत्रस्य बधिरत्वं शब्दाद्यग्राहकत्वम्, उपस्थस्य क्लीबत्वं रत्यसामर्थ्यम्। आदिपदात् दूरग्राहकपाटवादिसङ्ग्रहः। न च काणत्वादिकमदृष्टविशेष इति वाच्यम्। मनः काणमित्यादिव्यवहारापत्तेः। ननु इन्द्रियाध्यासमनुक्त्वा तद्धर्माध्यासः कथमुक्तः तत्राह—इन्द्रियाणामित्यादि। धर्म्यध्यासः—धर्मिणि तादात्म्येन अध्यासः। ननु परोक्षतयैव इन्द्रियमपरो-

नारायणी।

तृत्वमुक्तम्, तत्र 'नन्वध्यासोऽपि नोपपद्यत' इत्यादिना दत्तदोषानुक्तप्रकारेण निरस्येदानीं तदेव प्रमातृत्वं विस्तरेणोपसंहरति—तेनेति। अध्यासस्य निर्दुष्टत्वसमर्थनेन। अज्ञानेति। अज्ञानप्रतिबिम्बितत्वविशिष्टेऽहङ्कारस्यान्तःकरणस्याज्ञोहमित्यात्मक अध्यासः। तद्विशिष्टे—अज्ञोहमस्म्यहं स्फुराम्यहमात्मेत्याद्यहंकाराध्यासविशिष्टे। कामेति। 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्से'त्यादिश्रुत्युक्तानामहङ्कारधर्माणाम्। इन्द्रियधर्माणामित्यनेनादृष्टविशेषरूपाः काणत्वादयो मनोधर्मा वेति मतनिरासः, तथासति मनः काणमित्यादि व्यवहारापत्तेः। नन्विन्द्रियाध्यासमनुक्त्वा कथं तद्धर्माध्यास उक्तस्तत्राह—इन्द्रियेति। परोक्षत्वात्—अतीन्द्रियत्वात्। अपरोक्षधर्म्यध्यासः—अपरोक्षे धर्मिण्यहङ्कारविशिष्टे चैतन्ये तादात्म्येनाध्यासः। अहं चक्षुः श्रोत्रमित्याद्यप्रतीतेः। इतिसिद्धान्त इत्यनेन धर्माध्यासेनैव तद्व्यवहारोपपत्तौ=काण इत्यादिव्यवहारोपपत्तौ=तद्रूपेण धर्म्यध्यासकल्पनमप्रामाणिकमनतिप्रयोजनकमिति

इति सिद्धान्तः। तद्विशिष्टे स्थूलदेहाध्यासो धर्मपुर-

न्यायरत्नावली।

क्षधर्मिणि मनोविशिष्टचैतन्ये अध्यस्यताम् तत्राह-इति सिद्धान्त इति। सयुक्तिका मूलोक्तिरित्थमित्यर्थः। तत्र युक्तिरुच्यते अज्ञोहमिति प्रतीतिबलात् अज्ञानविशिष्टे मनोध्यासः स्वीक्रियते। अज्ञश्चक्षुः इत्यस्य अहं चक्षुरित्यस्य वा परोक्षाया अपरोक्षाया अपि प्रतीतेरभावात् अज्ञानादिविशिष्टे चक्षुरादेः तादात्म्येन नाध्यासः। अहं चक्षुष्मानित्यादिधीस्तु शरीरस्य इन्द्रियसंयुक्तत्वात् नानुपपन्ना। अत एव 'अयं गुरुत्वाविशिष्टः, अहमदृष्टवानि'त्यादिपरोक्षप्रतीतिबलात् अपरोक्ष एव धर्मिणि परोक्षस्याध्यासः स्वीक्रियते, अत एव 'देहेन्द्रियादिष्वहंममाभिमानहीनस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्ते'रित्यत्र भाष्ये इन्द्रियेषु ममाभिमान एव पञ्चपादिकादावुक्तः। ननु धर्म्यध्यासं विना कथं धर्माध्यासः? न च स्फटिकादौ जपापुष्पस्यानध्यासेऽपि तद्धर्मलौहित्याध्यासदर्शनात् न दोष इति वाच्यम्। अप्रतिबिम्बरूपेण धर्माध्यासस्य धर्म्यध्यासव्याप्यत्वादिति चेन्न। धर्माध्यासाधिष्ठाने अवश्यं धर्म्यध्यासः, न तु धर्माध्यासाधारे, तथा सति कामादिधर्मस्य अध्यासाधारे मनोविशिष्टचैतन्ये मनसोऽध्यासाभावेन व्यभिचारापत्तेः। तथा च अविद्यामनोविशिष्टचैतन्यस्य काणत्वादीन् प्रति अध्यासाधारत्वात्, तदध्यासाधिष्ठानस्य च ब्रह्मचैतन्यस्य इन्द्रियाध्यासेप्यधिष्ठानत्वात् धर्माध्यासाधिष्ठाने धर्म्यध्यासाधिष्ठानत्वमवश्यमिति नियमो न व्याहतः। अथ धर्म्यध्यासविशिष्टस्यैवाप्रतिबिम्बरूपधर्माध्यासाधारत्वमिति नियम इति चेन्न। अप्रतिबिम्बरूपत्वस्येव नित्यपरोक्षधर्म्यवृत्तित्वस्यापि धर्मविशेषणत्वमादायैवोक्तनियमस्वीकारात्। (१)(मनोवच्छिन्नचिति काणत्वादिविशिष्टरूपेणैव चक्षुरादेस्तादा-

(१) (……) एतच्चिन्हान्तर्गतपाठो घपुस्तके नास्ति।

स्कारेणैवाहं मनुष्य इत्याद्याकारः न तु स्वरूपतः (१) अहं देह इत्यध्यासः। तथा प्रतीत्यभावात्। तद्विशिष्टे च (२) स्थौल्यादीनां देहधर्माणामध्यासः। तद्विशिष्टे बाह्यानां पुत्रभार्यादीनां साकल्यवैकल्यादिधर्माध्यासः। एवं चै-

न्यायरत्नावली।

तन्येनाध्यासः न तु चक्षुष्ट्वादिधर्मरूपेणेति स्वीकार एव यथाश्रुतोक्तनियमेऽपि क्षमभावाच्च)। धर्मपुरस्कारेण—मनुष्यत्वादिगौरत्वाद्यवान्तरधर्मविशिष्टरूपेण, स्वरूपतः—देहत्वादिसामान्यधर्मविशिष्टरूपेण। प्रतीत्यभावादिति। अहं मनुष्य इत्यादिपूर्वपूर्वधीजन्यसंस्कारस्याहं मनुष्य इत्याद्यध्यासहेतुत्वकल्पनात् तादृशाध्यास उत्पद्यते। अहं देह इत्यादेस्तु प्रत्ययस्यैवाप्रसिद्ध्या तज्जन्यसंस्कारस्याप्रसिद्धेः न तस्य तादृशाध्यासहेतुत्वमिति भावः। भार्यादीनामिति। स्वामित्वाद्यध्यासपूर्वकमिति शेषः। साकल्यं विनयादिगुणभूषणादिमत्त्वरूपं पूर्णत्वम्, तदभावो वैकल्यम्। तथा च स्थौल्यादिविशिष्टे पुत्रादिस्वामित्वमध्यस्य पुत्रादिगतसाकल्यवैकल्ये अध्यस्येते। ननु 'स्थूलोऽहं सकल' इत्यत्र सकलस्वामित्वमेव प्रतीयत इति चेन्न। पुत्रादौ पूजिते पूजितोहमित्यभिमानात्।

नारायणी।

युक्तिसिद्धमेवाचार्यमतमिति ज्ञापितम्। तद्विशिष्टे च—दर्शितसूक्ष्माध्यासविशिष्टे च स्थूलदेहस्य तादात्म्येनाध्यासः। धर्मपुरस्कारेण—मनुष्यत्वादिधर्मविशिष्टरूपेण, न स्वरूपतः—न देहत्वादिधर्मविशिष्टरूपेण। कुतः? प्रतीत्यभावात्-संस्कारमूलभूततादृशप्रत्ययस्यालीकत्वात्। तद्विशिष्टे—देहाध्यासविशिष्टे। स्थौल्यादीनां—स्थूलत्वकृशत्वादीनां देहधर्माणाम्, तद्विशिष्टे—स्थौल्याद्यध्यासविशिष्टे। पुत्रेति। पुत्रभार्यादीनां ये साकल्यवैकल्यादयो धर्मास्तेषामध्यास इत्यर्थः। स्वामित्वाध्यासपूर्वकमिति शेषः। साकल्यं विनयादिगुणवत्त्वं तदभावो वैकल्यं स्थौल्या-

(१) अहं देह इति प्रतीत्यभावात् तद्विशिष्टे च इत्यादिः कखपुस्तकयोः।

(२)—स्थौल्यादीनां च तद्विशिष्टे इत्यादिः गघपुस्तकयोः पाठः।

न्यायरत्नावली।

अत्रेदं बोध्यम्। 'तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः' 'भावे जाग्रद्वदि'ति सूत्रयोः तन्वभावे इन्द्रियस्थूलदेहाभावेऽपि सन्ध्यवत् स्वप्नवत् ब्रह्मलोके सगुणब्रह्मोपासकस्य भोग उक्तः, देहस्य भावे तु जाग्रद्वत् जाग्रत्कालीनभोगवदित्यर्थकयोः। सेन्द्रियस्थूलशरीरानभिमानेऽपि मनोविशिष्टजीवे स्वप्नब्रह्मलोकयोः। भोगोक्त्याऽज्ञानविशिष्ट एव मनोध्यासः न स्थूलविशिष्टे। नापीन्द्रियधर्मविशिष्टे। अदृष्टादिविशिष्टमनोविशिष्टेनैव जीवेन काणत्वादिविशिष्टस्थूलदेहग्रहणात् तत्रैव तदध्यासः। स्थूलदेहविशिष्टस्यैव पुत्रादिस्वामित्वप्रतीतेः तत्रैव तदध्यासः। पुत्रस्वामित्वादिविशिष्टजीवेन तादृशे स्वस्मिन् उपयोगितया वित्तादिस्वीकारात् तत्रैव तदध्यासः। (१)अत एव पुत्राद्यपेक्षयाऽप्रियस्य देवताराधनाद्यर्थतया यस्य वित्तादेर्ग्रहणम्, न तु पुत्राद्यर्थम् तत्स्वामित्वस्य स्थूलदेहविशिष्टेऽध्यासः, न तु पुत्रादिस्वामिनि। अत एव तद्वित्तापेक्षया देवतादिरेव प्रियः, तत्प्रयोजकत्वात्। तदेव'मज्ञोऽहम्, अहं कामी, कामी, काणः, काणो मनुष्यः मनुष्यः सकल' (२)इत्यादिप्रतीतिबलात् अज्ञानादिविशिष्टे मनआदिकमध्यस्यते। अज्ञानादिविशिष्टचिदवच्छेदेन शुद्धचिति मनआदेरुत्पत्त्या तादात्म्यस्वीकारेण उक्तप्रतीतिनिर्वाह इति यावत्। उक्ताचितोऽवच्छेदकत्वेऽपि उक्ताचितः शुद्धचिन्निष्ठसम्बन्धोऽप्यवच्छेदकः, स च विशेष्यतारूपः, अवच्छेदकीभूतस्य ज्ञानज्ञेयसम्बन्धस्यैव विशेष्यतात्वात्। 'इदं रजत'मित्याकारकभ्रमे इदश्चित्सम्बन्धस्य विशेष्यतात्वेन क्लृप्तत्वात्। एवमवच्छेद्य(३)ज्ञेयसम्बन्ध एव प्रकारता,

(१) अत एव पुत्राद्यपेक्षया प्रियस्य देवताराधनाद्यर्थतया वित्तादेर्ग्रहणम्, इति पाठः। तथा च मूलग्रन्थविरोधः, 'वित्तात्पुत्रः प्रिय' इत्युक्तेः। तस्मादुपरि निर्दिष्टं परिवर्तनं कृतमस्माभिरिति।

(२) मनुष्य इति सकलं इत्यादिप्रतीति सत्त्वात् इति गपुस्तके पाठः अशुद्ध एवायम्।

(३)—अवच्छेद्यो ज्ञानज्ञेयसम्बन्धेति घपुस्तके।

तन्यस्याप्यहङ्कारादिषु देहपर्यन्तेष्वध्यासः संसर्गतः ।

न्यायरत्नावली ।

तादृशभ्रमे रजताचित्सम्बन्धस्य तथा क्लृप्तत्वात् । एवं विशेष्यतात्वादिकमतिरिक्तं न कल्प्यते, गौरवात् । तथा चाज्ञानविशिष्टविशेष्यतावच्छिन्नमनःप्रकारताकप्रत्ययस्य निर्वाह इत्युक्तम् । इदानीमुक्तप्रत्ययवत 'अहमज्ञः, काम्यहम् मनुष्यः कामी, सकलो मनुष्य' इत्यादिप्रत्ययस्यापि सत्त्वात्, मनआद्यवच्छेदेन शुद्धचिति अज्ञानादिविशिष्टचितोऽन्तर्गतत्वरूपप्रतिबि(१)म्बत्वरूपससंर्गोऽध्यस्तो जायते, तथा च उक्तप्रत्ययस्यापि निर्वाहः तन्नान्तरीयकतया मनसः प्रतिबिम्बाध्यासाधीनप्रमातृत्वस्यापि पूर्वोक्तस्य सिद्धिरित्याशयेनाह–एवञ्चैतन्यस्येत्यादि । चैतन्यस्य अज्ञानादिविशिष्टचैतन्यस्य अहङ्काराद्याधारस्य, अहङ्कारादिषु–मनआद्यवच्छेदकेषु, देहपर्यन्तेषु–साकल्यादिविशिष्टदेहपर्यन्तेषु, संसर्गतः–प्रतिबिम्बत्वरूपेण । 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्य' इति श्रुतेः । जलयुक्तपाषाणादेरिव मनोयुक्तदेहादेरपि प्रतिबिम्बाधारत्वसम्भवात् प्रतिबिम्बाधारत्वयोग्यतारूपस्वच्छत्वं बोध्यम् । ननु मनआदीनां सर्वेषामानन्दरूपात्मनि तादात्म्याध्यासेन तेषु जायमानस्य प्रेम्णः

नारायणी ।

दिविशिष्टे पुत्रस्वामित्वमध्यस्य पुत्रादिगतसाकल्यवैकल्ये अध्यास्ते, पुत्रादौ पूजितेऽहमेव पूजित इत्यादिप्रतीतिदर्शनादिति फलितार्थः । न केवलमात्मन एवाध्यास आत्मनि किन्तु 'गौरोहं चेतनश्चेतनोहं गौर' इति प्रतीतेः, 'इदं रजतं रजतमिदमि'त्यादौ रजतेदमंशयोः परस्पराध्यासवदात्मनोऽप्यनात्मन्यध्यासो युक्त एवेत्यभिप्रेत्याह—एवमिति । अज्ञानविशिष्टचैतन्यस्याहङ्काराद्याधाररूपस्य । अहङ्कारादिषु—मनआद्यवच्छेदेन, देहपर्यन्तेषु–साकल्याद्यध्यासविशिष्टदेहपर्यन्तेषु, संसर्गतः—रजतेदमंशस्येव संसृष्टत्वरूपेण । एतेन शून्यवादाशङ्का निराकृता, स्वरूपतोऽध्यस्तस्यैव विशेषदर्शनबाध्यत्वाङ्गीकारादित्यन्यत्र विस्तरः ।

(१)--प्रतिबिम्बितत्वरूप इति घपुस्तके युक्तश्चेदम् ।

अध्यासव्यवधानतारतम्याच्च प्रेमतारतम्यम् । तदुक्तं वार्तिकामृते—

वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात्
पिण्डः पिण्डात्तथेन्द्रियम् ।

न्यायरत्नावली ।

उत्कटानुत्कटत्वरूपं वैषम्यं कुतस्तत्राह-अध्यासव्यवधाने-त्यादि । अध्यासैरानन्दस्य व्यवधानाधिक्ये प्रेम्णोऽनुत्कटत्वं तन्न्यूनत्वे प्रेम्ण उत्कटत्वम्, सुषुप्तौ कार्यप्रपञ्चलयेनानन्दाभिव्यक्तिदर्शनेन स्वप्नजाग्रतोश्च तदपेक्षयाऽऽनन्दाल्पत्वदर्शनेनाध्यासाधिक्यस्य आनन्दापकर्षप्रयोजकत्वेन क्लृप्तत्वादिति भावः । वित्तादिति । अनेन पुत्रादिस्वामित्वविशिष्टाचिति वित्तादिस्वामित्वाध्यास इति अनुक्तमपि सूचितम् । 'पिण्डात्तथेन्द्रियम् । इन्द्रियेभ्यः प्रियः प्राण' इत्यनेन पङ्गुत्वकाणत्वादिविशिष्टरूपेण चक्षुरादीनां मनोविशिष्टाचिति अध्यास इति सूचितम्, अन्यथा ब्रह्मणि तादात्म्येनाध्यस्तत्वमात्रेण मनोपेक्षया अनुत्कटप्रेम्णः चक्षुरादावसम्भवात् । न च पुत्रादाविव ममताध्यासेनापि चक्षुरादावुक्तप्रेमसम्भव इति वाच्यम् । काणत्वादिरूपेण तादात्म्याध्यासः ममताध्यासो वेत्यत्र विनिगम-

नारायणी ।

ननु मनआदीनां सर्वेषां परिपूर्णानन्दे तादात्म्येनाध्यासात् तेषु जायमानप्रेम्ण उत्कटाऽनुत्कटत्वे कुतस्तत्राह— अध्यासेति । अध्यासैरानन्दस्य व्यवधानाधिक्यन्यूनत्वत इत्यर्थः । स्थूलाधिकदृष्टित आनन्दव्यवधानाधिक्यात्प्रेम्णोऽनुत्कटत्वं सूक्ष्माधिकदृष्टित आनन्दव्यवधानन्यूनत्वात्प्रेम्ण उत्कटत्वम्, प्रेमा सर्वत्रानन्द एव, स च यदाऽहङ्काराद्याधिक्यादिना संक्रान्तस्तत्र प्रेमा तथा नोदेति, अहङ्कारादिन्यूनतायां तु व्यवधानबाहुल्याभावात्सूक्ष्मदृष्टित उदेति प्रेमेति यावत् । एवंविधकल्पनायामनुभवरूपं वार्तिकाचार्यवाक्यं प्रमाणयति—तदुक्तमिति । वित्तादीति । प्रियः सुखसाधने(१)च्छाविषयः । अनेन प्रायः पुत्रादि स्वामित्वविशिष्टे वित्ता-

(१) सुखसाधनत्वेनेच्छाविषय इति खपुस्तके ।

इन्द्रियेभ्यः प्रियः प्राणः
प्राणादात्मा परः प्रियः ॥ इति ।

पिण्डः स्थूलशरीरम् । प्राणः अन्तःकरणम् । देहापेक्षया चेन्द्रियाणां प्रियत्वं शस्त्रवृष्ट्यादिधारापाते चक्षुरादीनां मीलनदर्शनात् अनुभवसिद्धम् । तेनान्यो-

न्यायरत्नावली ।

काभावात् । अन्यथा मनुष्यत्वगौर(१)त्वादिधर्मविशिष्टेऽपि ममताध्यास एव कल्प्येत । अथ धर्मितादात्म्याध्यासस्य धर्मसंसर्गाध्यासव्यापकत्वात् सोऽप्यावश्यक इति इति चेत्, तर्हि इन्द्रियतादात्म्याध्यासोऽपि तथा । आत्मा- अज्ञानविशिष्टचित्तदपेक्षया शुद्धात्मा उत्कटप्रेमविषय इति बोध्यम् । 'प्रेयोन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मे'ति श्रुतेः । अनुभवसिद्धमिति । पूर्णानन्दांशस्यावृतत्वेऽपि अविद्याद्यनवच्छिन्नानन्दांशानामनावृततत्वम्, 'अज्ञोऽहं सदा भूयासमिति' प्रेम्णोऽन्यथानुपपत्तेः, तथा च उत्कर्षापकर्षवत्तयापि तदनुभवसम्भव इति भावः । 'अज्ञोऽहमि'त्यादिवत् 'सन्नाकाशस्सन् वायुरि'त्यादावपि परस्पराध्यासः, 'आकाशः सन् वायुस्सन्नि'त्यादिप्रतीतिसत्त्वादित्याह—तेनेति । 'अज्ञोऽहमि'त्यादिस्थले परस्पराध्यासस्वीकारेणेत्यर्थः । अन्योन्याध्यासात्-पर-

नारायणी ।

दिस्वामित्वाध्यास इत्यनुक्तमपि सूचितम् । 'पिण्डात्तथेन्द्रियम् । इन्द्रियेभ्यः प्रियः प्राण' इत्यनेन पटुत्वकाणत्वादिना चक्षुरादीनां मनोविशिष्टेऽध्यास इति ज्ञापितम् । तथाचैकैकाध्यासविशिष्ट एवापराध्यासो न साक्षात्सर्वेषाम् । यस्य प्रथमतोऽध्यासस्तत्र प्रेमाधिकोन्यत्र न्यून इति संक्षेपः । पिण्डशब्दस्यान्नग्रासपरतानिरासायाह— पिण्ड इति । प्राणशब्दस्य केवलवायुपरताशङ्कानिरासायाह—प्राण इति । इन्द्रियप्रियत्वं स्फुटयति-- देहापेक्षयेति । तेनेति । परास्पराध्यासकृतकार्योपलब्ध्येत्यर्थः ।

(१) मनुष्यत्वकार्यत्वादीत्यादिः गपुस्तके ।

न्याध्यासात् चिदाचिद्ग्रन्थिरूपोऽध्यासः एकतरस्याध्या-

न्यायरत्नावली ।

स्पराध्यासप्रत्ययात्, अध्यासः-अध्यासमात्रम्, चिदाचिद्ग्रन्थि-रूपः-शुद्धचिद्रूपेऽधिष्ठानेऽचितोराधिष्ठानाभिन्नयोः ग्रन्थी परस्परावच्छेदेन परस्परसम्बन्धौ रूपे यस्य तादृशः। 'इदं रजतमि'त्यादौ सर्वत्र भ्रमे ह्याकारतादर्शनादिदमादिसम्बन्धावच्छेदेन रजतादिसम्बन्धस्य च प्रत्ययेन तदुभयमध्यस्तम्, तत्र रजतादेस्सम्बन्ध इव स्वरूपमप्यध्यस्तम्, 'इदं रजतं ने'त्यादिप्रत्ययेन विनिगमकाभावात्। द्वयोरपि बाध्यमानत्वात्। इदमादेस्तु सम्बन्ध एवाध्यस्तः न स्वरूपम्, 'रजतमिदं ने'त्यादिबाधेन संसर्गस्यैव बाध्यमानत्वात् तादृशबाधोत्तरमपि हि 'एतत्संसृष्टतया रजतं ज्ञात'मिति अङ्गुल्या निर्दिश्यमानत्वात्। कि'ञ्चेदं रजतमिति यज्ज्ञानं तन्मिथ्ये'ति प्रत्ययेनाकारद्वयसहितधीमिथ्यात्वा(१)वगमात् आकारद्वयघटकसम्बन्धद्वयमवश्यं मिथ्येति वाच्यम्। इदमादेरपि संसृष्टरूपेण भ्रमविषयत्वात् मिथ्यात्वसम्भवाच्च मिथ्यात्वम्। एवं 'सदाकाशमि'त्यादावपि सतः संसृष्टरूपेणा(२)काशादेस्स्वरूपेण मिथ्यात्वम्। 'सदाकाशमिति यज्ज्ञानं तन्मिथ्येति प्रत्ययात्, 'सदाकाशं न, आकाशस्सन्ने'ति द्विविधबाधकसत्त्वाच्च। तस्मात्सविकल्पकप्रत्ययमात्रे विशेष्यविशेषणसंसर्गाणां त्रयाणां युगपदुत्पत्तिः। प्रातीतिकस्थले आगन्तुकदोषघटिता व्यावहारिकस्थले त्वविद्याघटिता (३)कारणसामग्री, तदेतदाह-एक-

नारायणी ।

अन्योन्याध्यासात्—परस्परमध्यासाङ्गीकारात्। चिदचिद्ग्रन्थिरूपः—चिदचितोः परस्परावच्छेदेन परस्परसम्बन्धरूपः। 'घटः सन् सन्घट'इत्यादिप्रतीतेरिति भावः। नन्वेकतराध्यासेनैव द्विविधप्रत्ययोपपत्तेरलं परस्पराध्यासेनेति तत्राह—एकतरस्येति। विशेषणस्य विशेष्यस्य वा,

(१)—मिथ्यात्वावगाहनात् इति घपुस्तके।

(२)—णाकाशादेः संसृष्टरूपेण स्वरूपेण च मिथ्यात्वम् इति घपुस्तके।

(३) कारणेति गपुस्तके नास्ति।

साङ्गीकारेऽन्यतरस्याभानप्रसङ्गात् अध्यस्तस्यैव भ्रमे भाननियमात् 'इमे रङ्गरजते' इति समूहालम्बन(१)वद-वश्यमितरेतराध्यासः । सर्वबाधावधिभूतचैतन्यपरिशे-

न्यायरत्नावली ।

तरस्येति । विशेषणस्य विशेष्यसंसर्गस्य वा, अन्यतरस्य–विशेष्य-संसर्गस्य विशेषणस्य वा, अभानप्रसङ्गात्–भ्रमाविषयतापत्तेः । अध्यस्तस्यैवेति । उक्तबाधकप्रत्ययबाध्यत्वेनेति शेषः । भ्रमे भानेति । भ्रमविषयत्वेत्यर्थः । न 'न्विदं रजत'मित्यादौ एक एवा-कार उल्लिख्यते अथ कथं द्याकारत्वानियमः तत्राह—इमे इति । रजतरङ्गे इत्यर्थः । अवश्यमित्यनेन परस्पराध्यासस्य भाष्यानु-क्तत्वं सूचितम् । तदुक्तं भाष्ये—'अन्योन्यास्मिन्नन्योन्यात्मकता-मन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्ये'ति । ननु रजतादाविदन्त्वादेरिदमादौ रज-तत्वादेश्च संसृष्टतयाध्यासोऽन्योन्यधर्माध्यासः, तत्र च मानाभावः, प्रतीत्योरन्योन्यतादात्म्याध्यासाभ्यामुपपत्तेरिति चेन्न । द्याकार-प्रतीत्योर्धर्मयोस्संसर्गाध्यासाभ्यां धर्मिणोस्तादात्म्याध्यासाभ्यां

नारायणी ।

अन्यतरस्य--विशेष्यस्य विशेषणस्य वा, अभानप्रसङ्गात्--भ्रमाविषयत्वा-पत्तेः । कुतस्तत्राह--अध्यस्तस्यैवेति । स्वाश्रयनिष्ठाभावप्रतियोगिन एवे-त्यर्थः । विशेषदर्शनबाध्यत्वेनेति शेषः । भ्रमे भानेति । भ्रमविषयत्वमित्यर्थः । अन्यथा शुक्तित्वादीनामपि भानं स्यादित्यन्यत्र विस्तरः । ननु 'रजतमिदमि'-ति भ्रमे इदमंशस्य कारणत्वाद्भानं शुक्तित्वादेस्तु विरोधादेवाभानं न(२)-त्वनध्यासादभानम् इदमंशस्याध्यासाद्भानम् तथा च कथमध्यस्तस्यैव भाननियममङ्गीकृत्य परस्पराध्याससमर्थनं तत्राह--इमे इति । इदंशब्द-वाच्ययोरेव रङ्गरजतयोः 'रजतरङ्गे' इति भ्रमे परस्परमधिष्ठानारोप्या-ध्यासिकत्वमिति 'इदंरजतमि'ति विशिष्टभ्रमेऽपि भ्रमत्वाविशेषात् विशेष-णविशेष्यसंसर्गत्वमङ्गीक्रियत इत्यर्थः । अवश्यमित्युक्त्याऽत्र परस्परा-ध्यासस्यापरिहार्युक्तित्वं ध्वनितम् । इतरेतराध्यासः । परस्परं तादात्म्या-

(१)—समूहालम्बनभ्रमवदवश्यमित्यादिः कखपुस्तकयोः ।

(२) ननु शुक्तित्वादेरनध्यासादभानमित्यर्थः ।

न्यायरत्नावली।

वोपपत्तेरित्यत्र विनिगमकाभावात्। सङ्क्षेपशारीरकेऽप्युक्तम्-

इदमर्थवस्त्वपि भवेद्रजते परिकल्पितं रजतवास्त्विदमि।
रजतभ्रमेऽस्य च परिस्फुरणात् न यदि स्फुरेन्न खलु शुक्तिरिव ॥

इति। अस्य इदमर्थस्य 'न यदीदमर्थः कल्पितः तदा भ्रमे न स्फुरेत्, शुक्तिरिव शुक्तित्वविशिष्टवत्। शुक्तित्वविशिष्टस्येव संसर्गोपहित इदमादेरकल्पितत्वेन उक्तबाधकाबाध्यत्वेन भ्रमाविषयत्वापत्तिरिति भावः। पञ्चपाद्यामुक्तं 'यदि युष्मदर्थस्यैव प्रत्यगात्मनि अध्यासः स्यात् प्रत्यगात्मा न प्रकाशेत। न हि शुक्तौ रजताध्यासे शुक्तिः प्रकाशते। प्रकाशते च इह चैतन्यमहङ्कारादा'विति। युष्मदर्थस्यानात्मनः। किञ्च अवश्यमित्यनेन सर्वभ्रमाणां द्व्याकारता तार्किकादेरपि सम्मतेति सूचितम्। तथा हि-सविकल्पकधीमात्रे भ्रमत्वेनास्मत्सम्मते विशेष्यतावच्छिन्नं प्रकारत्वं प्रकारतावच्छिन्नं विशेष्यत्वं वेत्याकारद्वयं सप्रकारकधीमात्रनिष्ठं (१) तार्किकादिभिस्स्वीक्रियते, तादृशाकारद्वयं च 'रजततादात्म्येनेदं साक्षात्करोमि, इदन्तादात्म्येन रजतं साक्षात्करोमि, इदं रजतं साक्षात्करोमी'-ति सार्वलौकिकधीभिः गृह्यते। रजतप्रकारत्वमिदंविशेष्यत्वञ्च परस्परानवच्छिन्नमित्यादितान्त्रिकवाक्यरचनामात्रेण अर्थासिद्धेः। तथा चेदंविषयतायां रजतविषयतावच्छेदकत्वञ्च रजतविषयतायाम् इदंविषयतावच्छेदकत्वञ्च उक्तधीषु भाति। 'मूलविशिष्टः संयोगी'त्यादौ संयोगित्वरूपे विधेये उद्देश्यतावच्छेदकीभूतमूलवैशिष्ट्यस्यावच्छेदकत्वभानवत्(२) 'रजतमिदमि'त्यादौ रजतविषयकसाक्षात्कारे इदंतादात्म्यविषयकत्वस्य विधेयत्वेन इदंतादात्म्यविषयकत्वस्य रजतविषयतावच्छिन्नत्वलाभात्। 'रजततादात्म्येन इदमि'त्यादौ

(१)—निष्ठमस्ति अनुव्यवसायादिना तद्ग्रहणात् इति तार्किकादिभिः इत्यधिको घपुस्तके पाठः।

(२)—वत् इदंतादात्म्येन रजतमित्यादौ० इति पाठभेदो घपुस्तके।

न्यायरत्नावली ।

त्विदंविषयकसाक्षात्कारे रजततादात्म्यविषयकत्वस्य विधेयत्वेन तत्र इदंविषयतावच्छिन्नत्वलाभात् । एकविषयतावच्छेदकापरविषयतात्वस्यैव विशेष्यतात्वरूपस्य वक्ष्यमाणत्वात् । उक्तलौकिकधीभिः उभयोः परस्परविशेष्यविशेषणकत्वघटिताकारयोः सिद्धिरिति नास्माकमेव तत्स्वीकारेण गौरवाद्यापत्तिः । मन्मते तु विशेष्यतात्वादेरतिरिक्तस्याखण्डधर्मरूपस्यास्वीकारात् महदेव लाघवम् । तथा हि—चिच्चेत्यसम्बन्धो विषयता, विषयतात्वमखण्डधर्मस्तस्यां स्वीक्रियते, एकविषयताविशिष्टापरविषयतायाम् अवच्छेदकविषयताविशेष्यता तादृशविशेष्यतायामवच्छेदकविषयता(१) विशेष्यतावच्छेदकताशब्देन व्यवह्रियते, तदाश्रयस्य इदन्त्वादेरपि विशेष्यतावच्छेदकत्वात् । एवं च यस्याः (२)(तादात्म्यादिनिष्ठसांसर्गिक) विषयतायाः अवच्छेदकत्वं विशेष्यतानिष्ठम् सा तत्रावच्छेदकत्वे निरूपिका (३)तन्निष्ठनिरूपकताया अवच्छेदिकापि विषयिता सांसर्गिकविषयितावच्छेदकताशब्देनोच्यते । तदाश्रयतादात्म्यत्वादेरपि निरूपकतावच्छेदकत्वात् । सांसर्गिकविषयता यया विषयतया विशिष्टा सती तादृशावच्छेदकतानिरूपिका या सा प्रकारता । तथा च (४)तादृशप्रकारतावच्छेदिका या विषयता सा (५)प्रकारतावच्छेदकताशब्देनोच्यते, तदाश्रयस्य 'रजतत्वादेरपि तादृशप्रकारतावच्छेदकत्वसत्त्वात् । तदिदंविशेष्यतादौ प्रकारतासांसर्गिकविषयतावच्छेदकत्वादिकं तार्किकादिभिरपि स्वी

(१) विशेष्यतावच्छेदिकापि—इति घपुस्तके अधिकः पाठः ।

(२)—(····) एतच्चिह्नान्तर्गतपाठो घपुस्तके नास्ति ।

(३) तादात्म्यादिनिष्ठा विषयता सांसर्गिकविषयता, तन्निष्ठेति पाठाधिक्यं घपुस्तके ।

(४)—तादृशावच्छेदकताया निरूपिका सती निरूपकतावच्छेदिका विषयता प्रकारतानिरूपकविशेषणत्वेन तस्या अपि निरूपकत्वात् तादृश० इत्यधिकः पाठो घपुस्तके ।

(५) प्रकारतात्वविशिष्टविषयतावच्छेदिकाऽपि प्रकारता० इत्यधिकः पाठो घपुस्तके ।

न्यायरत्नावली।

क्रियते 'रजतत्वेनेदं जानामि, रजतत्वसमवायेन इदं जानामि, रजतता-दात्म्येनेदं जानामी'त्यनुभवेन प्रकारतासंसर्गविषयतावच्छेदकत्वेन विशेष्यत्वावगाहनात्। तथा च तेनैवाखिलव्यवहारनिर्वाहे विशेष्यतात्वप्रकारतात्वसांसर्गिकविषयतात्वविशेष्यताप्रकारतावच्छेदकतात्वानाम् अखण्डधर्माणां स्वीकारः न तेषां युक्तः। इदंविषयतावच्छिन्ना या रजतविषयता तद्विशिष्टा या तादात्म्यविषयता तच्छालिप्रत्यक्षत्वेन 'इदं रजतमि'त्याकारकप्रत्यक्षस्य प्रवृत्तिहेतुत्वसम्भवात्। तदयं निष्कर्षः। इदंविषयता तादात्म्यविषयताविशिष्टायां रजतविषयतायाम् अवच्छेदिका, मूलादिकामिव संयोगादिविशिष्टे विहगादौ। तादृशावच्छेदकत्वे इदन्त्वविषयता अवच्छेदिका, मूलादिनिष्ठावच्छेदकत्वे मूलत्वादिकामिव। एवम् इदंविषयतानिष्ठावच्छेदकत्वे निरूपकत्वं यत् तादात्म्यादिविषयतानिष्ठं तदवच्छेदकत्वं तादात्म्यत्वादिविषयतासु स्वीक्रियते, संयोगत्वादाविव मूलादिनिष्ठावच्छेदकतानिरूपकतावच्छेदकत्वम्। इयांस्तु विशेषः—यन्मूलत्वादेस्समवायेन मूलादिसम्बन्धत्वात् उक्तावच्छेदकत्वम्, इदन्त्वादिविषयतानां तु चिद्घटितेन सामानाधिकरण्येन इदमादि(१)-विषयसम्बन्धत्वात् उक्तावच्छेदकत्वम्, इदमादिविषयतानिष्ठमनवच्छिन्नमेव तादृशावच्छेदकतानिरूपकत्वम् इदन्त्वादिविषयतावच्छिन्नमित्यादि बोध्यम्। तस्मात् सांसर्गिकविषयतात्वस्यैव अखण्डधर्मत्वनियमः, न तु विशेष्यतात्वस्य प्रकारतात्वस्य वा। ननु 'घटस्सन् पटस्सन्नि'त्यादौ सत्तादात्म्यस्य एकस्यैव भानसम्भवात् विशेषणविशेष्यसंसर्गाणां युगपदुत्पत्तिरिति पूर्वमुक्तमयुक्तमिति चेन्न। घटपटाद्यवच्छिन्नतादात्म्यानाम् ऐक्यानुपपत्तेः, अव-

(१) इदमादिविषयतासु सम्बद्धत्वादुक्तावच्छेदकत्वम्। इदन्त्वादिसम्बन्धविषयतावच्छेदकत्वम्—इति भिन्नः पाठो घपुस्तके।

न्यायरत्नावली ।

च्छेदकभेदेन परमते विषयतादीनामिव तादात्म्यानां भेदस्यावश्यकत्वात् । ननु वृत्तिज्ञानीयसम्बन्धानां विषयनिष्ठानां विशेष्यतादिरूपत्वस्य अवश्यं वाच्यतया तैरेव विषयताव्यवहारनिर्वाहे चिच्चेत्यसम्बन्धानां विषयतात्वकल्पने मानाभाव इति चेन्न। 'अहं सुखी'त्यादौ वृत्तिज्ञानीयसम्बन्धेन सुखादौ विषयताव्यवहारासम्भवात्, सुखादौ साक्षिमात्रभास्यत्वेन वृत्त्यस्वीकारात्, तत्र सुखादिचित्सम्बन्धस्यैव सुखादिविषयतात्वेन क्लृप्तत्वेन चित्सम्बन्धस्यैव सर्वत्र विषयतात्वस्वीकारात्, ज्ञानज्ञेयसम्बन्धस्यैव विषयताव्यवहारविषयत्वात्, वृत्तेः ज्ञानव्यञ्जकत्वेऽपि ज्ञानत्वाभावात्, ज्ञानव्यञ्जकत्वानुरोधेनैव वृत्तेः ज्ञानावरणरूपाज्ञानसमानविषयकत्वात् चिन्मात्रविषयकत्वम्, अज्ञानस्येव वृत्तेः विषयतायां विशेष्यविशेषणयोः संसर्गः व्यक्तिमात्रस्यावच्छेदकम्, नास्त्येव वावच्छेदकम्, यथा पर्वते वह्निः संसर्गावच्छिन्नचिद्विषयकानुमितिरूपवृत्तेः, सोऽयमित्यादिवाक्यजन्यवृत्तेर्वा, तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यवृत्तेर्वा, तथा चावच्छिन्नानवच्छिन्नरूपेण चिदेव वृत्तेर्विषयः, न घटादयः तादृशविषयतावन्तः; तेषु तु वक्ष्यमाणरीत्या सांसर्गिकविषयतावच्छेदकत्वरूपं विषयत्वम्। अवच्छेदकीभूतसंसर्गस्य प्रतियोगित्वानुयोगित्वरूपे विशेषणविशेष्यत्वे वा न मुख्ये,तथा चैतन्यनिष्ठमपि वृत्त्यज्ञानयोर्विषयत्वं न मुख्यविषयत्वं ज्ञानीयत्वाभावात्, किन्त्वाकाराख्यसम्बन्धविशेषः। उदयनाचार्यादिभिरपि बौद्धाधिकारादौ'प्रकाशस्य सतस्तदीयतामात्रनिबन्धनः स्वभावविशेषः विषयते'त्यादिना प्रकाशशब्दितज्ञानीयसम्बन्धस्यैव विषयतात्वमुक्तम्। उक्तञ्च तट्टीकासु वर्धमानाद्यैः 'इच्छादीनां विषयता तज्जनकज्ञानीया याचितमण्डनन्यायेन न तु स्वाभाविकी' इति । न च प्रतियोगित्वानुयोगित्वमात्रस्य तादृशविशेषणत्वादिरूपत्वे अनुमित्यादिवृत्तेः 'विशेष्ये विशेषणमि'त्यादिरूपाया विशिष्टस्य वैशिष्ट्यमित्यादिरूपायाश्च विषयताया भेदः

न्यायरत्नावली ।

कुतस्त्य इति वाच्यम् । प्रतियोगितानुयोगितयोरेव नानाविधानुभूयमानविशेषाणां स्वीकारात्, वह्न्यादिप्रकारकानुमितिस्थले वह्नित्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिकसंयोगाद्यतादात्म्यविशिष्टचैतन्यनिष्ठसांसर्गिकविषयतास्वीकारात्, विशेषणीभूतसंयोगतत्प्रतियोगित्वयोरपि मिथो निरूप्यनिरूपकभावापन्नाः सांसर्गिकविषयताः सिद्धान्तेऽपि स्वीक्रियन्ते । सर्वो हि विषयः सद्रूपचित्तादात्म्यविशिष्टतयैव विशिष्टज्ञानमात्रे भासते, तथा च विशेषणविशेष्ययोरिव संयोगादिसंसर्गस्यापि चित्तादात्म्यविशिष्टतया भानात् तत्तादात्म्यविशिष्टतया चितोऽपि भानम् । संयोगनिष्ठोक्तविषयतानिरूपिता या प्रतियोगित्वनिष्ठविषयता सापि सांसर्गिकविषयतैव, तादृशविषयतावती प्रतियोगितैव प्रकारतेत्युच्यते, तदन्यप्रकारत्वे मानाभावात् । एवं संयोगादिविषयतानिरूपितविषयतावदनुयोगितैव विशेष्यता । अत एव भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वानुयोगित्वे प्रकारताविशेष्यते इति तार्किकादयो वदन्ति । भासमानवैशिष्ट्यस्य भासमाने प्रतियोगित्वानुयोगित्वे इति तदर्थः,(१) *विशिष्टविषयतानिरूपितप्रकारतात्वं वह्नित्वावच्छिन्नप्रकारताया एव स्वीक्रियते* लाघवात्। एवं पर्वतत्वाद्यवच्छिन्नानुयोगिताया एव तादृशविशेष्यतात्वम् । एवं च पूर्वकल्पे वह्नित्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगितात्वेन प्रतियोगितायाः विषयता यत्र तत्र वह्नित्वविशिष्टनिरूपितवैशिष्ट्यधीः, पर्वतत्वाद्यवच्छिन्नानुयोगितात्वेनानुयोगिताभाने पर्वतत्वविशिष्टाधिकरणकवैशिष्ट्यधीः, यत्र तु प्रतियोगितानुयोगितयोः न तथा भानं किन्तु वह्नित्वाद्युपहितनिष्ठतया तत्र विशेष्ये विशेषणमित्यादिधीः । द्वितीयकल्पे तु वह्नित्वादेः प्रकारतावच्छेदकत्वादिरूपे प्रकारत्वे

(१) *वैशिष्ट्यविषयतानिरूपितविषयतावती तथेति यावत्,तेन समूहालम्बनस्य न प्रकारतादिकम्,अथवा संयोगादिविषयतानिरूपितप्रकारतात्वं वह्नित्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताया एव स्वीक्रियते* लाघवादिति पाठभेदश्च घपुस्तके ।

षेण च न शून्यवादापत्तिः । सत्यानृतसम्भेदावभास-

न्यायरत्नावली ।

विशिष्टवैशिष्ट्यम्, केवलप्रकारत्वे विशेष्ये विशेषणमित्यादिरूपत्वम्। आद्य एव तु कल्पो युक्तः, विषयवैलक्षण्यं विना विषयतामात्रभेदेन ज्ञानानां वैलक्षण्यापादने साकारवादापत्तेः । ननु 'इदं रजतमि'त्याकारकज्ञाने इदंचित्सम्बन्ध एवावच्छेदकतया भाति, न तु रजतचित्सम्बन्ध इत्यत्र किं व्यवस्थापकम् ? इति चेत्- अनुभव एव । अन्यथा 'मूलविशिष्टः कदम्बः कृष्णसंयोगी'त्यत्र प्रत्यक्षे मूलस्यैवावच्छेदकतया भानं न तु कृष्णसंयोगस्येत्यत्राप्यनुभवान्यव्यवस्थापकान्वेषणापत्तेः । तथा चानुभवेनैव अवच्छेदकत्वे व्यवस्थापिते तन्निर्वाहाय मूलादेर्मूलाद्यवच्छिन्नसंयोगादिहेतुत्ववदज्ञानादेरिदमाद्यवच्छिन्नरजतादिहेतुत्वं कल्प्यते । स्वविषयतावच्छेदकविषयतावत्त्वादिसम्बन्धेन रजतादिकं प्रति स्वाश्रयतावच्छेदकत्वसम्बन्धेनाज्ञानादेर्हेतुत्वम् । विवेचितश्चैतत् चन्द्रिकायामस्माभिः । तस्माद् द्व्याकारानुभवात् 'इदमादिकं यदि भ्रमकालेऽध्यस्तं न स्यात् तदा भ्रमविषयो न स्यात्, शुक्तित्वविशिष्टवदि'ति तर्कात्, 'इदमादिकं भ्रमकालेऽध्यस्तं न स्यात् भ्रमविषयत्वात् रजतादिवदि'त्यनुमितेश्च परस्पराध्यास आवश्यकः । तदुक्तं संक्षेपशारीरके—

अनुभूतियुक्त्यनुमितित्रितयादितरेतराध्यसनसिद्धिरतः । इति ।

ननु 'सदिदंरजतमि'त्यादिभ्रमे सद्रूपचितोऽपि विषयत्वात् साप्यध्यस्ता स्यात् तत्राह—सर्वबाधेत्यादि । साक्षिरूपत्वेन चितो बाधासम्भवात् चैतन्यं सर्वबाध्यज्ञानानामविषयरूपोऽवधिः, अतः तस्य परिशेषात मिथ्यात्वास्वीकारात् । शून्यवा-

नारायणी ।

ध्यासः तयोः संसर्गाध्यासश्च । ननु विशेषणविशेष्योर्द्वयोरप्यध्यस्तत्वे बाधात्सर्वशून्यतैव तत्राह—सर्वेति । सर्वबाधकधीविषयचैतन्यस्य परिशेषेण-मिथ्यात्वास्वीकारेण, न शून्यवादापत्तिः-न सर्वमिथ्यात्ववादस्य

त्वादध्यासस्य । तस्मात्पूर्वपूर्वाध्यासमूल एवायमुत्तरोत्तरोऽहङ्काराध्यासः बीजाङ्कुरवदनादिः । अविद्याध्यासश्च

न्यायरत्नावली ।

दस्य—सर्वमिथ्यात्ववादस्य आपत्तिरिति भावः। तथा च संसृष्टरूपेणैव सद्रूपस्य भ्रमविषयत्वं मिथ्यात्वञ्च, न तु शुद्धरूपेणेति भावः । सत्यानृतसम्भेदावभासत्वात्—वस्तुगत्या सत्यनिष्ठो योऽनृतसम्बन्धः तद्विषयकत्वात् । सत्यविषयकत्वं विनाधिष्ठानज्ञानस्य बाधकत्वासम्भवेन आरोपितस्य अनृतत्वासिद्धेरधिष्ठानं सत्यमेवेति भावः । ननु मनुष्यत्वादिविशिष्टरूपेणैव देहादेरध्यासः न तु देहत्वादिविशिष्टरूपेण, एवमज्ञानादिविशिष्ट एव चैतन्ये अहङ्काराद्यध्यासः न तु आकाशादिविशिष्ट इत्यत्र किं मानम्? तत्राह—तस्मादिति । प्रतीतिरूपकार्यानुसारेण तत्कारणकल्पनमित्यस्य धर्मपुरस्कारेणेत्यादिनोक्तत्वादित्यर्थः । अध्यासमूलः—अध्यासजन्यसंस्कारजन्यः, अहङ्काराध्यासः—अहङ्कारादिरूपः तद्धीरूपश्चाध्यासः । अर्थाध्यासे अर्थस्य ज्ञानाध्यासे ज्ञानस्य सूक्ष्मावस्थारूपः संस्कारो हेतुरिति भावः । संस्कारजन्यत्वेऽपि भाष्योक्तमनादित्वं समर्थयते—बीजाङ्कुरादिवदनादिरिति ।

नारायणी ।

प्रसङ्ग इत्यर्थः । आधारांशस्यैवाविद्योपहितस्य सत इदमंशस्येवाध्यस्तेऽध्यासो नाधिष्ठानस्य परिपूर्णानन्दस्य शुक्त्यंशादेरिव, अत आधाराध्यस्तयोर्द्वयोर्बाधेप्यधिष्ठानस्य बाधाभावान्न शून्यताप्रसङ्गगन्धोपीत्यन्यत्र विस्तरः । उपपादयति—सत्येति । वस्तुगत्या सत्यवस्तुनिष्ठो योऽनृतस्य सम्भेदः सम्बन्धस्तादात्म्यरूपः तद्विषयकत्वाद् भ्रमस्येत्यर्थः । सत्यविषयकत्वं विनाऽधिष्ठानज्ञानस्य बाधकत्वायोगादधिष्ठानं सत्यमेवेति भावः । देहादेर्मनुष्यत्वप्रकारेणैवाध्यासो नान्यथेत्यत्र हेतुं समर्थयन्नुपसंहरति—तस्मादिति । प्रतीत्यनुसारेणैवाध्यासकल्पनादिति भावः । अध्यासमूल एव-संस्कारद्वाराध्यासकारणक एव, अहङ्कारादेः-अहङ्कारेन्द्रियदेहतद्धर्माणामध्यासः स्वरूपतो ज्ञानतश्च । अत्रानवस्थादिको बीजा-

एक एवानादिः । (१)नन्वध्यासस्यानादित्वे 'स्मृतिरूपः

न्यायरत्नावली।

एकजातीयस्य स्वसृष्ट्यवधिप्रलयपर्यन्तसर्वकाले सत्त्वमनादित्वमिति भावः । ननु अज्ञानाध्यासस्य उत्पत्त्यभावः 'न चात्माश्रयादी'त्यादिनोक्तः, स च न युक्तः, अहङ्कारस्य कार्यत्वेन तदवच्छेदेन संसृष्टतया घटाद्यवच्छेदेन कपालादाविव कारणस्य अज्ञानस्याप्युत्पत्तिसम्भवात् तत्राह—अविद्येत्यादि । एक एव–अहङ्कारानवच्छिन्न एव, अविद्याध्यासः–चिन्निष्ठाविद्यासम्बन्धः, अनादिः–अनुत्पन्नः । अहङ्काराध्यासकाले अहङ्कारावच्छेदेन अविद्यासंसर्गाध्यासेऽपि अविद्याविशिष्टचैतन्यस्य तत्पूर्वकाले सत्त्वमवश्यं वाच्यम्, अन्यथा चिदसम्बन्धेन अज्ञानेन (२)चित्सम्बन्धाहङ्कारजननासम्भवादित्यहङ्काराद्यनवच्छिन्नस्याप्यनुत्पन्नस्य अज्ञानाचित्सम्बन्धस्य आवश्यकत्वात् तद्विशिष्टरूपेण अनुत्पन्नत्वम् अज्ञानाध्यासस्याविरुद्धमिति भावः । वस्तुतस्तु अहङ्कारोत्पत्तेः पूर्वमपि नानुत्पन्नोऽविद्यासम्बन्धः किन्तु उत्पन्नः, पूर्वोत्पन्नस्य अहङ्कारावच्छिन्नस्य अज्ञानचितोः तादात्म्यस्य संस्कारः, पूर्वोत्पन्नः अहङ्कारसंस्कारेणावच्छिन्नस्तेन सम्बन्धेन चिति सम्बन्धस्याज्ञानस्याहङ्कारजनकत्वम् , तस्यावश्यकत्वेन तदन्यसम्बन्धे मानाभावादिति ध्येयम्।

नारायणी।

ङ्कुरादाविव प्रामाणिकत्वान्न दोष इत्याह—बीजेति । बीजादङ्कुरम् अङ्कुराच्च बीजान्तरं तत अङ्कुरान्तरमिति यथा तथा पूर्वाध्यासात्संस्कारः ततोध्यासः ततः संस्कार इत्येवमेकजातीययोः कार्यकारणयोः स्वसृष्टिप्रभृतिस्वप्रलयपर्यन्तं घटीयन्त्रवदावृत्तेरनादित्वमित्यर्थः । संस्कारसाधारणकार्यपरिणामभयाङ्गीकृताया अविद्याया अध्यासस्तु स्वरूपतोऽनादिरित्याह—अविद्येति । अविद्यायाः कारणभूतायाः अध्यासः एक एव न धारान्तःपातितयाऽनेकः अतः स्वरूपतोनादिः उत्पत्तिरहितः तस्योत्प-

(१) नन्वविद्याध्यासस्येति कखपुस्तकयोः । (२) अत्र यद्यपि चित्सम्बन्धातङ्कारेति सर्वत्र पाठ उपलभ्यते तथापि चित्सम्बद्धे त्याद्येव युक्तम्।

परत्र पूर्वदृष्टावभासोऽध्यास' इति वदता भाष्यकारेण स्मृतिरूपत्वेन संस्कारजन्यत्वमुक्तं विरुध्येतेति चेन्न । कार्याध्यासाभिप्रायत्वात्तस्य । 'परत्र परावभास' इत्येतावन्मात्रस्यैव उभयानुगतस्य लक्षणत्वात् ।

न्यायरत्नावली ।

यम् । अध्यासस्य—अज्ञानाध्यासस्य, अनादित्वे-अनुत्पन्नत्वे, स्मृतिरूपः—स्मृतिसदृशः । स्मृतिरूपत्वेन—स्मृतिरूपत्वोक्त्या । परत्र परावभास इति । अवमतो भासो ज्ञानं ज्ञेयं वाऽवभासः। तथा चावमतत्वं ज्ञानार्थाध्यासयोर्लक्षणम् । तच्च येन रूपेण येन सम्बन्धेन च यदवच्छेदन यत्र यत्प्रतीयते तदवच्छेदेन तत्र वर्तमानाभावस्य तद्रूपसम्बन्धाभ्यामवच्छिन्नप्रतियोगित्वं तन्निष्ठमित्यर्थाध्यासस्य, तादृशप्रतियोगित्वाश्रयविषयकज्ञानत्वं ज्ञानाध्यासस्ये-

नारायणी ।

त्विकल्पने तु तस्य तस्यापि कारणान्तरापेक्षायामनवस्थाप्रसङ्गादिति भावः । अध्यासस्य-अज्ञानाध्यासस्य, अनादित्वे-अजन्यत्वे, स्मृतिरूपः-संस्कारजन्यत्वेन स्मृतिसदृशः, परत्र-तदभाववति, पूर्वदृष्टावभासः-ज्ञानपक्षे अवभासनमवभासः पूर्वदृष्टस्यावभासः पूर्वदृष्टजातीयस्यावभास इति यावत्, अन्यथाऽन्यथाख्यात्यापत्तेः, पूर्वदृष्टस्य नैयायिकैरपि भानाङ्गीकारात्; अर्थपक्षे तु अवभासत इत्यवभासः अवभासमानः पदार्थः, पूर्वदृष्टश्चासावभासश्चेति पूर्वदृष्टावभास इत्यर्थः । तथाच स्वाधिकरणवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वमर्थाध्यासस्य, तादृशार्थविषयकत्वं ज्ञानाध्यासस्य लक्षणमिति निष्कर्षः । स्मृतिरूपत्वेन-स्मृतिसदृशत्वेन । कार्येति । अहङ्काराद्यध्यासाभिप्रायकत्वात् । 'अहमिदं ममेदमि'ति भाष्येण तस्यैवोपक्रमात् इति भावः । ननु तर्हि भाष्ये (१)कारणाध्यासानुक्त्या न्यूनता तत्राह —परत्रेति । पूर्वदृष्टपदमारोप्यार्थपरं तथाच परत्र स्वाभाववति परस्य पदार्थस्य योऽवभासः अवभासमानो वा परःसोऽध्यासो भ्रम इति यावत् । उभयेति । कार्यकारणोभयाध्यासलक्षणत्वादित्यर्थः । अस्मि-

(१) कारणाध्यासस्य लक्षणानुक्त्येत्यर्थोऽत्र ज्ञेयः, अन्यथा कारणाध्यासस्योक्तत्वाद्व्याघातः स्यादिति भावः ।

यद्वा 'सत्यानृते मिथुनीकृत्ये'ति भाष्यवचनात् सत्यमिथ्यावस्तुसम्भेदावभासोऽध्यास इत्येव सिद्धान्तलक्षणम्। तेन कारणाध्यासेऽपि न लक्षणाव्याप्तिः। कार्याध्यासस्य च प्रवाहरूपेण बीजाङ्कुरवदनादित्वाभिधानान्न कोऽपि दोषः। एवमध्यासे सिद्धे एकस्यात्मनो जीवेश्वरादिव्यवस्था मानमेयादिप्रतिकर्मव्यवस्था चोपपद्यते। त-

न्यायरत्नावली।

ति भावः। अत्र यथाश्रुतवाक्यस्य लक्षणाबोधकत्वादाह-यद्वेत्यादि। अनृतत्वमेव लक्षणम्, तदाश्रयस्य सदसद्व्यावृत्तिज्ञापनाय सत्यसम्भेदेत्युक्तम्, सत्यतादात्म्येत्यर्थः। सत्यं हि न सत्यसम्भिन्नं सत्ययोरभावात्। नाप्यलीकं तथा, सदसतोस्सम्बन्धाभावादिति भावः। अथवा सत्यसम्भिन्नत्वं लक्षणान्तरमथवा सत्यस्य चैतन्यज्ञानरूपत्वेन सम्बन्धोक्त्याऽनृतज्ञानत्वं ज्ञानाध्यासलक्षणमुक्तम्। अध्यासे—अज्ञानाहङ्काराध्यासे। उपपद्यत इति। तथा च तदुपपादनार्थमेव प्रथमोत्पन्नमप्याकाशाध्यासमनुक्त्वाऽहङ्काराध्यास उक्त इति भावः।

नारायणी।

लक्षणे भाष्यकारपङ्क्तिस्थस्मृतिरूपपदस्वारस्यभङ्ग इत्यतो लक्षणान्तरमाह—यद्वेति। सम्भेदः तादात्म्यम्। तेनेति। प्रकृतलक्षणकरणेनेत्यर्थः। अव्याप्तिः-कारणाध्यासासङ्ग्रहः। ननु कारणाध्यासस्यानादित्वसमर्थनेऽ'हमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहार' इति भाष्यकारेणोक्तम्, कार्याहङ्काराद्यध्यासस्याप्यनादित्वमुक्तं विरुध्येत तत्राह—कार्येति। अध्यासनिरूपणस्य फलपर्यवसानमाह—एवमिति। निरुक्तप्रकारेणेत्यर्थः। अध्यासे-आत्मानात्मनोरितरेतराध्यासे। जीवेश्वरादीत्यादिना ब्रह्मविष्णुरुद्रादेर्विश्वादेश्च परिग्रहः। मानेति। मानमेयादीनां प्रतिविषयव्यवस्था कदाचित्कुत्रचित्केनचिदेव विषयो गृह्यत इत्यात्मिका एतस्या जीवेशविभागपूर्वकत्वात् जीवेशविभागमेवादौ दर्शयति—तथाहीति। तत्र

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।

इतिश्रुतेः कार्यकोटिस्त्वंपदार्थस्य, कारणकोटिस्तत्पदार्थस्य। तत्रा-

नारायणी ।

पि कार्यकारणयोर्विशेषणत्वम् उपाधित्वमुपलक्षणत्वं चादाय तत्त्वंपदार्थावपि विशिष्टावुपहितावुपलक्षिताविति त्रिविधौ भवतः । तत्रान्तःकरणविशिष्टस्त्वंपदार्थो जीवः, 'तद्यथा महामत्स्य'इत्यादिश्रुतिप्रमितावस्थात्रयवान् । अन्तःकरणोपहितो जीवः साक्षी,'त्रिषु धामसु यद्भोग्य'-(१)मिति श्रुतिप्रमितः । अहंत्वपुरस्कारेणैव जीवस्य द्रष्टृत्वप्रतीतेः । अन्तःकरणोपलक्षितः शुद्धस्त्वंपदार्थः, 'अविजिघित्सोयमात्मे'ति श्रुतेः । प्रपञ्चनिरूप्यसाक्षित्वादिधर्मातीतः केवलः सच्चिदानन्दमात्रः । एवं तत्पदार्थोऽपि अज्ञानविशिष्ट ईश्वरः, 'मायिनन्तु महेश्वरम्' इति श्रुतेः । मायोपहित ईशः साक्षी, 'एको देवः सर्वभूतेष्वि'ति श्रुतिप्रमितः । मायोपहितस्यैव मायातत्कार्यद्रष्टृत्वसम्भवात् । मायोपलक्षितः शुद्धः 'केवलो निर्गुणश्चे'त्यादिपदैरेव तथा प्रतिपादितो वस्तुतः शुद्धत्वंपदार्थाभिन्नः । अत्र यद्यपि साक्षाद्व्यावर्तकत्वं विशेषणत्वं सप्रकारकधीजनकमात्रत्वरूपम्, उपरञ्जकपदाभिधेयमुपाधित्वं परम्परया व्यावर्तकत्वरूपम्, परिचायकपदार्थाभिधेयमुपलक्षणत्वं नैयायिकाभिमतमेकस्यैकपदाभिधेये न सम्भवति विरोधात्, अत एकैकपदाभिधेययो(२)रुक्तरीत्या त्रैविध्यं दुर्घटम्, तथापि स्वसिद्धम्, सिद्धान्ते तन्मतपरिभाषाया अनङ्गीकारात् । किन्तु विशेष्यवृत्तिधर्माश्रयत्वे सति व्यावर्तकं विशेषणम्, यथा 'घटोऽस्ती'त्यत्र घटे घटत्वं नीलादिश्च, विशेष्यघटवृत्तिविधेयसत्ताश्रयत्वे सति घटत्वस्य पटादिभ्यो नीलादेश्च पीतादिभ्यो व्यावर्तकत्वात् । उपाधिश्च विशेष्यवृत्तिधर्मानाश्रयत्वे सति साक्षाद्व्यावर्तकः, यथा 'श्रोत्रमस्ती'त्यादौ केवलश्रोत्रपदार्थे श्रोत्रे कर्णशष्कुली । तामादायैव नभसोऽस्तीत्यादिनियमाभावात् । तस्यास्तत्र विशेष्यनभोवृत्तिसत्त्वाद्यनाश्रयत्वे सति अन्याकाशादिभ्यो व्यावर्तकत्वात् । उपलक्षणं तु विशेष्यवृत्तिधर्मानाश्रयत्वे सति परम्परया व्यावर्तकम्, यथा 'यत्र शाखाग्रं तत्र चन्द्र' इत्यादौ चन्द्रे शाखादिः । देशविशेषोपस्थापनद्वारैव तस्य व्यावर्तकत्वात् । दार्ष्टान्तिके च अहङ्कारोऽन्तःकरणगतानामसद्वृत्तिबन्धाश्रयत्वाद्भवति तथान्तःकरणं विशेषणम्, साक्षिणि चोपाधिः । तद्वृत्तिभासकत्वरूपसाक्षिमात्राः अविनाभावात् । शुद्धे चोपलक्षणं विशिष्टोपस्थापनद्वारा

(१) त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् । तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः । इति श्रुत्या प्रमितः ।

(२) —[illegible] इत्यादि अनुपपत्तेः ।

थाहि—अज्ञानोपहित आत्मा अज्ञानतादात्म्यापन्नः स्वचिदाभासाविवेकादन्तर्यामी साक्षी जगत्कारणमिति च

न्यायरत्नावली ।

अज्ञानोपहितेत्यादि । अज्ञानोपाधौ प्रतिबिम्बभावापन्नत्वात् अन्तर्गततादात्म्यापन्नो यः अज्ञानोपहितात्मन(१) आभासः प्रतिबिम्बः सोऽज्ञानोपहितः,आत्मा–विविक्तः बिम्बप्रतिबिम्बयोरभेदस्य यावदुपाधिसत्त्वं भानात् सोऽन्तर्यामिरूपः । तस्य च स्वरूपतो मिथ्यात्वेऽप्यात्माविवेकाच्चेतनत्वसाक्षित्वादीति ज्ञापयितुम् आत्मा विशेष्यत्वेनोक्तः न तु तथा विवक्षितमत्र, अथवेत्यादिना तादृशपक्षस्य वक्ष्यमाणत्वात् । अन्तर्यामी–सर्वेषां प्रेरकः, साक्षी–सर्वव्यवहारहेतुज्ञानस्वरूपः, तेनैव ज्ञानेन सर्वेषां जीवानां व्यवहार इति भावः । जगत्कारणमिति । न च जगत्कारणत्वरूपेणेशस्य जीवान् प्रति आवृतत्वात् साक्षिरूपेणावृतत्वापत्त्या साक्षित्वानुपपत्तिरिति वाच्यम् । अज्ञानप्रतिबिम्बत्वरूपसाक्षित्वविशिष्टेऽहङ्काराध्यासस्य विवरणादिमत इव वार्तिकमतेऽपि स्वीकारात् जीवान्प्रति सा-

नारायणी ।

विशिष्य तज्ज्ञापनात् । एवमज्ञानस्यापि तत्पदाभिधेये त्रयं सम्भवति, तद्वृत्तिकर्तृकत्वाश्रयत्वात् , साक्षित्वबाधात् , विशिष्टोपस्थापनद्वारा विशिष्य तज्ज्ञापनाच्चेत्यादिपरिभाषयैव जीवेशसाक्षिशुद्धविभागव्यवस्थाया उपपादनान्न काप्यनुपपत्तिः । अविद्यायास्तत्कार्यस्य जीवस्य तद्भोक्तुः कर्तुरीशस्य द्रष्टुः साक्षिणश्च स्वप्नत्वप्रतिपादकायाः वक्ष्यमाणश्रुतेः स्वारस्यमस्मिन्नेव पक्षे उपपद्यत इत्यभिप्रेत्य वार्त्तिककारैरङ्गीकृतमिमं पक्षमवतारयति—अज्ञानोपहितात्मेति । अज्ञानोपहितस्यात्मा–प्रतिबिम्बत्वेन स्वरूपम् । तस्य जगत्कारणत्वेन निर्देशे हेतुगर्भं विशेषणमाह—अज्ञानेति । अज्ञानतादात्म्यविशिष्टतया प्रमित इत्यर्थः । प्रतिबिम्बस्य मिथ्याभूतस्य कथमन्तर्यामित्वादिकं तत्राह—स्वचिदाभासेति । स्वस्मिन्नज्ञाने यश्चिदाभासस्तस्य बिम्बेनाविवेकात् । तथाच बिम्बाभेदमादाय तत्रान्तर्यामित्वादिव्यपदेशः । अन्तर्यामी सर्वेषां प्रेरकः, साक्षी स-

(१) अज्ञानोपहित आत्मन इति गपुस्तके । तदसंल्लग्नम् ।

कथ्यते, बुद्ध्युपहितश्च(१) तत्तादात्म्यापन्नः स्वचिदाभासाविवेकाज्जीवः कर्ता भोक्ता प्रमातेति च कथ्यते- इति वार्तिककारपादाः। प्रतिदेहं बुद्धीनां च भिन्नत्वात् तद्गतचिदाभासभेदेन तदविविक्तं चैतन्यमपि भिन्नमिव प्रतीयते। अज्ञानस्य तु सर्वत्राभिन्नत्वात्तद्गताचिदाभासभेदाभावात् तदविविक्तसाक्षिचैतन्यस्य न कदाचिदपि

न्यायरत्नावली।

क्षिणोऽनावृतत्वात्। तत्र प्रमाणवृत्त्यभावकालेऽप्यहमज्ञ इति प्रत्ययात् अहङ्कारविशिष्टस्यैव सुखदुःखादिसाक्षित्वेनाज्ञानसाक्षिणीश्वरत्वस्वीकारादिति भावः। बुद्ध्युपहित इति। अहङ्कारोपहित इत्यर्थः। पूर्ववदहङ्कारोपहितात्मन(२) आभासः तदविविक्ताहङ्कारोपाध्यन्तर्गतप्रतिबिम्बरूपः जीवादिरूपः सुषुप्तावपि संस्काररूपेणाहङ्कारसत्त्वाज्जीवसत्त्वम्। बुद्धीनाम्—अहङ्काराणाम्। सर्वत्र-सर्वकालेषु। साक्षिचैतन्यस्येति। 'कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः। साक्षी'-त्यादिश्रुतिः ईशस्य सर्वसाक्षित्वे मानम्। ननु उपाधितादात्म्या-

नारायणी।

र्वव्यवहारहेतुज्ञानस्वरूपः, जगत्कारणम्-जगदुपादानम्। बुद्धीति। बुद्ध्युपहितस्यात्मा प्रतिबिम्बत्वेन स्वरूपः। तस्य कर्तृत्वे हेतुगर्भं विशेषणमाह-तत्तादात्म्यापन्नः। बुद्धितादात्म्यविशिष्टतया प्रतीयमानः। ननु मिथ्याभूतस्य कथं चेतनत्वादिकं तत्राह--स्वेति। स्वस्मिन्नहङ्कारे यश्चिदाभासस्तस्य बिम्बेनाविवेकात्। अत्रापि बिम्बाभेदमादायैव सर्वचेतनत्वादिकमिति भावः। ननु जीवसाक्षिणः प्रतिबिम्बभेदोऽवभासते। ईशसाक्षिणस्तु नेति भेदः किं निबन्धनस्तत्राह—प्रतिदेहमिति। बुद्धिगतचित्प्रतिबिम्बभेदेन तदविविक्तं चैतन्यमपि-प्रतिबिम्बाभिन्नतया प्रमितं जीवसाक्षिचैतन्यमपि भिन्नमिव-प्रातीतिकभेदविशिष्टं प्रतीयते। सर्वत्र-सर्वेषु कार्येषु अभिन्नत्वात्-एकत्वात्। तद्गतेति। अज्ञानगतेश्वररूपप्रतिबिम्बभेदाभावात्। तदविविक्तेति--तदभिन्नेत्यर्थः। भेदभानम्-औपा-

(१) बुद्ध्युपहितात्मा तत्तादात्म्यापन्न इति कखपुस्तकयोः।
(२) अहङ्कारोपहित आत्मन इति गपुस्तके।

भेदभानमिति। अस्मिंश्च पक्षे तत्त्वमादिपदे जहल्लक्षणैव। साभासस्योपाधेर्वाच्यार्थस्य हानात्। आभासस्यापि जडाजडविलक्षणत्वेनानिर्वचनीयत्वात्। तदुक्तं संक्षेपशारीरके--

साभासाज्ञानवाची यदि
भवति पुनर्ब्रह्मशब्दस्तदाहं-

न्यायरत्नावली।

पन्नाभासोऽपि विनिगमनाभावात्तत्त्वमादिपदवाच्यः। आभासश्च उपाध्यन्तर्गत(१)स्वरूपोऽपि तद्धर्मविशिष्टचिदेव। तथा च जहदजहल्लक्षणैव तत्राह—आभासस्येति। सोपाध्याभासस्येत्यर्थः। वाच्यार्थस्येत्यनुषज्यते। अनिर्वचनीयत्वात्–वार्तिकमते मिथ्यास्वरूपत्वस्वीकारात्। साभासाज्ञानवाची साज्ञानाभासवाची(२)

नारायणी।

धिकप्रातीतिकभेदभानम्। अस्मिंश्च पक्षे–जीवेशयोः कार्यकारणोपाध्यन्तर्गताभासरूपतापक्षे। तत्त्वमस्यादिपदे–'तत्त्वमसी'ति वाक्यघटकीभूततत्त्वमादिपदे। आदिपदा'दहं ब्रह्मास्मी'त्यादिपरिग्रहः। जहल्लक्षणैव–जहति पदानि स्वार्थं यस्यां वृत्ताविति वाच्यार्थस्य सर्वांशपरित्यागेनाशक्यवृत्तिरूपैव। तत्र बीजमाह--साभासस्येति। आभाससहितस्योपाधेरित्यर्थः। वाच्यार्थस्य हानात्–त्यागात् अभेदान्वयित्वासम्भवादिति भावः। ननु विनिगमकाभावादुपाधिविशिष्टाभासोऽपि तत्त्वमादिपदवाच्यः, आभासश्चोपाध्यन्तर्गतत्वरूपारोपितधर्मविशिष्टा बिम्बचिदेव तथाच जहदजहल्लक्षणैव तत्राह--आभासस्येति। सोपाध्याभासस्यापि। जडेति। 'अहं चेतन' इत्यादिप्रतीतेरहङ्कारादिरूपजडविलक्षणत्वेन। आभासत्वादेव साक्षिरूपाजडविलक्षणत्वेनेत्यर्थः। अनिर्वचनीयत्वात्–स्वरूपतो मिथ्यात्वात्। प्रमाणं चात्र जीवेशादीन्प्रकृत्य 'तदेतत्त्रयं स्वप्नं मायामा मि'त्यादिश्रुतिः, चिदाभासो मिथ्या आभासत्वान्मुखाभासवदि'त्यनुमानं च। साभासाज्ञानवाची साज्ञानाभासवाची वा। अहङ्कारवाची

(१)—र्गतत्वरूपारोपितधर्मविशिष्टचिदेव इति घपुस्तके।

(२) वा अहङ्कारवाची साभासाहङ्कारस्य साहङ्काराज्ञानस्य वा वाचकः इति घपुस्तके।

शब्दोऽहङ्कारवाची भवति

तु जहती लक्षणा तत्र पत्ते । इति ।

न चाभासस्यैव बद्धत्वात् केवलचैतन्यस्य मुक्तत्वात् बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यं स्वनाशार्थं प्रवृत्त्यनुपपत्तिश्चेति वाच्यम् । केवलचैतन्यस्यैवाभासद्वारा बद्धत्वाभ्युपगमात् । तदुक्तं वार्त्तिककारपादैः--

न्यायरत्नावली ।

साभासाहङ्कारस्य साहङ्काराभासस्य वाचकः । बद्धत्वात्—कर्तृत्वादिसंसारवत्त्वात् , मुक्तत्वात्-तत्त्वज्ञानाभिव्यक्तपूर्णानन्दस्वरू-

नारायणी ।

साभासाहङ्कारस्य साहङ्काराभासस्य वा वाचकः । तत्र पक्षे-मिथ्याभासाङ्गीकारपक्षे । जहती-विशेषेण स्वशक्यार्थं परित्यजन्ती । आभासवादे बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यापत्तिरूपं दोषमपरिहार्यत्वेन पराभिप्रेतं परिहरिष्यन्नाशङ्कते-नचेति । आभासस्यैव-बुद्धिगतानिर्वचनीयचित्प्रतिबिम्बस्यैव न कूटस्थस्यावभासकस्य, बद्धत्वात्-'अहङ्करोमि, मे दुःखमि'त्यादिप्रतीतिसिद्धकर्तृत्वादिरूपसंसारबद्धत्वात् । केवलचैतन्यस्य तु सत्यस्य मुक्त्यन्वययोग्यस्य, मुक्तत्वात्-अविद्यानिवृत्त्युपलक्षितपरिपूर्णानन्दरूपत्वात् । बन्धमोक्षयोः-अविद्याप्रयुक्तकर्तृत्वतत्त्वज्ञानप्रयुक्ताविद्यानिवृत्त्योः, वैयधिकरण्यं-भिन्नाधिकरणनिष्ठत्वम् , तथाच मुक्त्यर्थं बद्धजीवस्य प्रवृत्तेरयुक्तेः प्रवृत्तस्य मिथ्यात्वेन फलकालेऽसत्त्वेन फलालाभादिति भावः। आभासवादे दूषणान्तरमाह--स्वेति । बन्धस्येव आभासस्यापि मिथ्यात्वात् तदीयतत्त्वज्ञानेन बन्धस्येवाभासस्यापि नाशोऽवश्यमङ्गीकर्तव्यः । नचैतद्युक्तम् , स्वनाशार्थं प्रवृत्त्यदर्शनादिति भावः । मत्तापरिज्ञानाद् दूषणमिति ज्ञापयिष्यन्स्वमतप्रदर्शनेन दूषणं परिहरति--केवलेति । साक्षिचैतन्यस्यैव नाभासस्येत्यर्थः । आभासद्वारा-स्वानिर्वचनीयप्रतिबिम्बद्वारा । बद्धत्वाङ्गीकारात्-कर्तृत्वादिभानरूपसम्बन्धाङ्गीकारात् । प्रतिबिम्बभावानन्तरं कर्तृत्वग्रहणं बन्धः स च साक्षिण एव तन्निवृत्तिरूपो मोक्षोऽपि तस्यैवेति न बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यगन्धोपीति यावत् । अपसिद्धान्तशङ्कां वारयति--तदुक्तमिति । वार्त्तिककारैरिति शेषः ।

अय मेव हि नोऽनर्थो यत्संसार्यात्मदर्शनम्। इति।

तेन शुद्धचैतन्यस्याभास एव बन्धः। तन्निवृत्तिश्च मोक्ष इति न किञ्चिदसमञ्जसम्। अथवाऽऽभासा-

न्यायरत्नावली।

पत्वात्। (१)नः—अधिष्ठानीभूतचिन्मात्रस्वरूपकाणाम्, आभासाना-मित्यर्थः। दर्शनं—भासकत्वयोग्यशुद्धचिन्निष्ठम् आभासतादात्म्य-मिति यावत्। तन्निवृत्तिरिति। तथा च स्वीयवास्तवमुख्य(२) स्वरूपप्राप्तये स्वस्य बद्धस्य नाशार्थमपि प्रवृत्तिः न दोषाय। सर्व-मतेष्वपि मुक्तस्य स्वीयरूपस्य प्राप्त्यर्थं (३)बद्धस्वरूपस्य नाशार्थं बद्धे प्रवृत्तिस्वीकारात्। मनोदेहादिविशिष्टरूपं हि बद्धम् तन्नाशद्वारा तदुपलक्षितमुक्तरूपप्राप्त्यर्थं तत्र प्रवृत्तेः स्वीकारात्। अत्र अज्ञान-मेव शुद्धचिन्निष्ठं बन्धः तन्नाशो मोक्ष इति युक्तम्।

'अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः।

इति वार्तिकोक्तेः। आभासस्याप्यज्ञानजन्यत्वात्। तथाप्या-भासस्य सुखदुःखाद्याश्रयत्वेन स्फुटबन्धवत्त्वेन प्रत्ययात् स एव ब-न्ध उक्तः। अत एव संसार्यात्मदर्शनमित्यनेनाभासस्य दुःखादिसं-सारवत्त्वमुक्तम्। नन्वेवं यत्र बन्धस्तदेव जीवस्य स्वरूपं स्यात्त-त्राह—अथवेत्यादि। चैतन्यमपीति। यदा चिदविविक्ताभासो

नारायणी।

नः अस्माकं भासकचिद्रूपाणां अनर्थः बन्धः संसार्यात्मदर्शनं संसार्यात्मना संसारिरूपेणाभासतादात्म्यविशिष्टतया दर्शनं प्रतीतिः। दोषसमाधान-स्य फलितार्थमाह--तेनेति। स्पष्टम्। जहल्लक्षणावादो न भाष्यकाराणा-मभिमत इत्यतस्तदनुसारेणाभासवादे तत्त्वंपदार्थावाह--अथवेति। आ-भासादविविक्तचैतन्यम्। अज्ञानगताभासतादात्म्यविशिष्टतया प्रतीय-मानं जीवसाक्षिचैतन्यं तत्पदवाच्यं बुद्धिगताभासतादात्म्यविशिष्टतया

(१) यद्यप्यत्र 'न अधिष्ठानीभूत' इत्यादिः पाठः, तथापि लेखकदोषादिति बोध्यम्। परन्तु 'अयमेव हि नोऽनर्थो' इत्यस्याः कारिकायाः न इति पदस्यार्थ एषः।

(२)—मुक्तरूपेति घपुस्तके। (३) बद्धस्य स्वीयरूपस्येति घपुस्तके।

विविक्तचैतन्यमपि तत्त्वमसिपदवाच्यम् । तेन वाच्यै-
कदेशस्यात्यागादस्मिन्पक्षे जहदजहल्लक्षणैवेति न को
ऽपि दोषः । अयमेव पक्षः आभासवाद इति गीयते ।

न्यायरत्नावली ।

वाच्यः, तदा विनिगमकाभावात् आभासाविविक्तं चैतन्यमपि वाच्यम् । वाच्यार्थस्य चिद्रूपतया भानस्य उभयथापि निर्वाहादिति भावः । एकदेशस्येति । यद्यपि चिदविविक्ताभासस्य वाच्यत्वेऽपि चितो वाच्यविशेषणत्वेन वाच्यत्वमस्ति, तथापि चित्स्वरूपलक्षणा न जहदजहल्लक्षणोच्यते, शक्तिमुख्यविशेष्यलक्षणाया एव तथात्वात् । शक्तिस्वाभाव्येन विशेष्यतयैव भानं चितः स्यात् । जहदजहल्लक्षणा हि शक्यैकदेशशक्तिरेव । यथा बलवदनिष्टाजनकत्वविशिष्टेष्टसाधनत्वज्ञानशक्तविधिप्रत्यये 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इत्यादौ केवलेष्टसाधनत्वबोधोपधयिकातादृशशक्तिरित्युक्तं शब्दमणौ । तथा च विशेषणतया शक्यस्याविशेषणतया च शाब्दधीर्यदि शक्त्या स्यात्, तदा 'गौर्नित्या, पशुरपशुरि'त्यादावपि स्यात् । किञ्च विशेषणस्यावाच्यतापक्षे चिदविविक्तस्य वाच्यत्वेऽपि चितो वाच्यत्वाभावेन वाच्यैकदेशत्वाभावे बोधो लक्षणयैवेति भावः । आभासवाद इति । स्वरूपतो मिथ्याभूतं प्रति-

नारायणी ।

प्रतीयमानं जीवसाक्षिचैतन्यं त्वंपदवाच्यमित्यर्थः । अपिना विनिगमकाभावादाभासाविविक्तचैतन्यस्य चैतन्याविविक्ताभासस्य च द्वयोरेव तत्त्वमादिपदवाच्यत्वं वक्तुं शक्यमिति ज्ञापितम् । प्रकृतोक्तेः फलमाह–तेनेति । आभासाविविक्तचैतन्यस्य वाच्यत्वाङ्गीकारणेत्यर्थः । वाच्यैकदेशस्य–वाच्यार्थैकदेशस्य साक्षिणः, अत्यागात्–अन्वयितया ग्रहणात् । अस्मिन्नपि पक्षे–आभासस्य मिथ्यात्वमिति पक्षे, जहदजहल्लक्षणैव जहति न जहति च पदानि स्वार्थं यस्यां वृत्तौ सैव, शक्यैकदेशपरित्यागेन शक्यैकदेशवृत्तिरूपैवेति यावत् । एवकाराद् वृत्त्यन्तरव्यवच्छेदः । न कोपि दोषः । नाचार्योक्तिविरोधरूपो दोषः । अयमेव पक्ष इति । जीवेशौ वि-

अज्ञानोपाहितं बिम्बचैतन्यमीश्वरः । अन्तःकरणतत्संस्कारावच्छिन्नाज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीवः इति विवरणकाराः । अज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यमीश्वरः ।

न्यायरत्नावली ।

बिम्बमिति वादः आभासवादः । स्वरूपतः सत्यं प्रतिबिम्बत्वरूपेण मिथ्याभूतं बिम्बमेव प्रतिबिम्बमिति वादस्य विवरणोक्तस्य वक्ष्यमाणस्य प्रतिबिम्बवादत्वमिति भावः । बिम्बचैतन्यम्— अज्ञानोपाध्यनन्तर्गतचैतन्यम् । शुद्धाद्व्यावर्तयति—अज्ञानोपहितमिति । अन्तःकरणेत्यादि । अन्तःकरणं स्थूलावस्थं मनः, तत्संस्कारः सूक्ष्मावस्थं मनः, तयोरन्यतरविशिष्टं यदज्ञानं तत्प्रतिबिम्बितमिति, उक्तान्यतररूपे अज्ञाने च प्रतिबिम्बितमिति यावत् । मनस्त्वेन निवेशे मनस्संस्कारस्य असङ्ग्रहः, तत्र मनस्त्वसत्त्वे मानाभावात् । न हि घटसंस्कारे घटत्वमस्ति, अतस्संस्कारोऽपि पृथगुक्तः । उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वेन 'पूर्णानन्दो नास्ति न भाती'ति व्यवहाररूपकार्यमविद्या प्रतिबिम्ब एव जन-

नारायणी ।

म्बादतिरिक्तौ चिदाभासावेवेति पक्षः । आभासवादः । स्वरूपतो मिथ्याभूतः प्रतिबिम्ब इति वादः । बिम्बस्यैव प्रतिबिम्बव्यवहारतत्क्लृप्तकार्यसम्भवान्नातिरिक्ताभासकल्पनं युक्तं गौरवादित्यभिप्रायकं विवरणमतमाह--अज्ञानेति । अज्ञानरूपोपाधिना परिचायकेन परिचितं कर्णशष्कुल्यादिना श्रोत्रादिवत् । एतेन महाकाशमिव शुद्धमिति लब्धम् । तथाचेश्वरचैतन्यं ग्रीवास्थमुखवदुपाध्यनन्तर्गतमिति फलितम् । उपाध्यादिलक्षणं प्रागेवोक्तम् । अन्तःकरणं स्थूलावस्थाबुद्धिः, संस्कारः सूक्ष्मावस्थाबुद्धिः, तयोरन्यतरविशिष्टं यदज्ञानं तत्र प्रतिबिम्बितं तदन्तर्गतत्वरूपारोपितधर्मविशिष्टं चैतन्यं बिम्बात्मकमेव जीवः जीवपदाभिधेय आत्मा, तथाच बिम्बप्रतिबिम्बयोः स्वरूपत एकत्वं भेदस्तु कल्पितः अतः स्वरूपेण जीवस्य सत्त्वाद् बन्धमोक्षयोः सामानाधिकरण्यादिकमपि स्वरसत उपपद्यत इति संक्षेपः । नेयं कल्पना युक्ता 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वर' इति श्रुतिविरोधात्, किन्तु कार्यकारणगतप्रतिबिम्बावेव ताविति संक्षेपशारीरकाचार्यमतमाह--अज्ञानेति । अज्ञानान्तर्ग

बुद्धिप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीवः। अज्ञानोपहितं बिम्बचैतन्यं शुद्धमिति सङ्क्षेपशारीरककाराः। अनयोः पक्षयोः बुद्धिभेदाज्जीवनानात्वम्। प्रतिबिम्बस्य (१)पारमार्थिकत्वात् जहदजहल्लक्षणैव तत्त्वमादिपदेषु। इममेव च

न्यायरत्नावली।

यति, न तु बिम्बे; दर्पणादेः स्वगतमालिन्यादिसंसर्गस्य प्रतिबिम्बीभूतमुखादौ जनकत्वदर्शनात्। अतो जीवस्यैव प्रतिबिम्बत्वमुक्तं नेशस्येति बोध्यम्। शुद्धं–जीवेशानुस्यूतं साक्षिरूपम्। नानात्वमिति। मनोवच्छिन्नस्यैव संसाराश्रयत्वप्रतीत्या मनस उपाधित्वमावश्यकम्, तथा च जीवनानात्वमिति भावः।(२)प्रतिबिम्बस्य–प्रतिबिम्बस्वरूपचितः। प्रतिबिम्बत्वविशिष्टरूपेण कल्पितत्वेऽपि प्रतिबिम्बस्य स्वरूपचैतन्यमकल्पितमिति भावः। 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय' इत्यादिश्रुतयोऽनेकमनोरूपे प्रतिबिम्बितानां जीवत्वे मानानि। ईशस्य प्रतिबिम्बितत्वेऽपि तत्र

नारायणी।

तत्त्वरूपारोपितधर्मविशिष्टं चैतन्यमित्यर्थः। बुद्धीति। बुद्ध्यन्तर्गतत्वरूपारोपितधर्मविशिष्टं चैतन्यमित्यर्थः। अतो न वार्तिककारमतादविशेषस्तन्मतेऽतिरिक्तस्यैवाभासस्याङ्गीकारात्। शुद्धमाह--अज्ञानेति। अज्ञानोपलक्षितमित्यर्थः। शुद्धं–जीवेशयोरनुस्यूतसाक्षिरूपम्। अत एवोपहितशब्देन निर्देशः। भास्यभासकभावरूपस्याज्ञानकृतसम्बन्धस्य च व्यवहारकाले सत्त्वात्। अनयोः–बिम्बप्रतिबिम्बावीशजीवौ कार्यकारणौपाधिकौ जीवेशावित्युक्तयोः। नानात्वमिति। बुद्ध्यवच्छिन्नस्यैव संसाराश्रयत्वप्रतीतेः बुद्धेरुपाधित्वमाश्रयतया अवच्छेदकतया चावश्यं तथाच जीवनानात्वमिति भावः। आभासवादाद्वैलक्षण्यं कल्पनायाः फलमाह--प्रतिबिम्बस्येति। प्रतिबिम्बस्वरूपचितः। सत्यत्वात्--प्रतिबिम्बत्वरूपधर्मविशिष्टतया मिथ्यात्वेऽपि प्रतिबिम्बत्वोपलक्षितं स्वरूपचैतन्यं त्रिकालाबाध्यमेवेति भावः। जहदजहल्लक्षणैव-प्रतिबिम्बत्वाद्यंशपरित्यागेन

(१) सत्यत्वादिति कखपुस्तकयोः नारायण्यां च।
(२) प्रतिबिम्बस्य इति गपुस्तके नास्ति।

प्रतिबिम्बवादमाचक्षते । अज्ञानविषयीकृतं चैतन्यमीश्वरः । अज्ञानाश्रयीभूतं च जीव इति वाचस्पतिमिश्राः । अ-

न्यायरत्नावली ।

अविद्या 'पूर्णानन्दो नास्ती'त्यादिव्यवहारं न जनयति, सार्वज्ञ्यश्रुतेः । अज्ञानविषयीत्यादि । 'ब्रह्म नास्ती'त्यादिव्यवहारो यदाश्रितः अज्ञानमपि तदाश्रितम् । कार्यकारणयोः एकाश्रितत्वस्य युक्तत्वात् । स च जीवाश्रित इत्यज्ञानमपि तदाश्रितम् । न च अज्ञानाश्रयस्यैव जीवस्वरूपत्वात् आत्माश्रय इति वाच्यम् । अज्ञानोपहितस्यैव जीवत्वेन जीवाश्रितस्याज्ञानस्य स्वाश्रितत्वाभावात् । न हि दण्डत्वोपहितस्य घटकारणत्वे दण्डत्वस्यापि तत् । एवं च 'अज्ञानाश्रयो नास्ति न भाती'तिव्यवहाराभावात् अज्ञानानाश्रयीभूतस्यैव अज्ञानविषयत्वात् तदुपहितचिदेव ईश

नारायणी ।

वाच्यार्थैकदेशरूपशुद्धचिद्बोधोपयिका वृत्तिर्भागाख्या लक्षणैव । इममेव । एकैव कूटस्थचिदुपाध्यन्तर्गतत्वादिना जीवेशादिव्यपदेशभाक् न तु भिद्यतेऽस्याभासेनेति पक्षम् । प्रतिबिम्बवादं-स्वरूपतः सत्यः प्रतिबिम्ब इति वादं आचक्षते तत्त्वविद इति शेषः । ईशे अज्ञानकल्पनं न युक्तं भ्रमकारणतया कल्पनीयस्य तस्य भ्रमाश्रये जीव एवौचित्यात् , कार्यकारणयोरेकाश्रितत्वनियमात् , अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्, तस्मात्--

तस्यैव नित्यतृप्तस्य सदानन्दमयात्मनः ।
अविच्छिन्नस्य जीवस्य संसृतिः कथ्यते बुधैः ॥

इत्यादिस्मृतेरविद्यावच्छिन्नानवच्छिन्नावेव जीवेशावित्यभिप्रायकं वाचस्पतिमतमवतारयति--अज्ञानेति । 'ब्रह्म नास्ती न भाती'ति जीवनिष्ठभ्रमकारणीभूताज्ञानविषयीभूतं नत्वविद्याश्रयमभ्रान्तत्वादित्यर्थः । 'ज्ञाज्ञौद्वावजावीशानीशा'विति श्रुतेश्चाज्ञानाश्रयो जीव एवेत्याह— अज्ञानेति । आश्रयतासम्बन्धेनाज्ञानविशिष्टमित्यर्थः । न चाज्ञानाश्रयस्यैव जीवत्वादात्माश्रय इति वाच्यम् । अज्ञानोपहितस्यैव जीवत्वेन जीवाश्रितस्याज्ञानस्य स्वाश्रितत्वाभावात् दण्डत्वस्येव दण्डोपहितवृत्तित्वेपीत्यन्यत्र विस्तरः । अस्मिंश्च पक्षे-अवच्छेदवादपक्षे । (१)[यथा दण्डत्वोप

(१) [...] चिह्नितः पाठो नास्ति खपुस्तके ।

स्मिंश्च पक्षे अज्ञाननानात्वात् जीवनानात्वम् । प्रतिजीवं च प्रपञ्चभेदः । जीवस्यैव (१)स्वाज्ञानोपहिततया-

न्यायरत्नावली ।

इति भावः । अज्ञाननानात्वादिति । कस्मिंश्चि(२)ज्जीवन्मुक्तेऽपि कस्यचित् बन्धोपलब्धेः जीवभेदप्रयोजकं जीवोपाध्यज्ञाननानात्वं कल्प्यते । प्रपञ्चभेदः-ईशाकाशादिप्रपञ्चनानात्वम् । एकाज्ञाननाशेऽपि अज्ञानतद्विषयेशतत्कार्याकाशादीनां सत्त्वात् नानात्वमिति भावः । ननु सृष्ट्यारम्भकाले सर्वैरज्ञानैः एक एव प्रपञ्चो जन्यताम्, अज्ञानभेदेन प्रपञ्चभेदकल्पने गौरवात् । एकाज्ञानस्य उच्छेदक्षणे प्रपञ्चस्य उच्छेदे(३) तत्तद्द्वितीयक्षणे विद्यमानाज्ञानानां परिणामः प्रपञ्चान्तरं जायते । एवञ्च एकस्मिन् प्रपञ्चोच्छेदक्षणे केनापि प्रपञ्चो नोपलभ्यते इति स्वीक्रियते उक्तलाघवानुरोधात् । न च भवन्मतेऽपि तत्तदज्ञानव्यक्तिभिः क्रमेण नानाप्रपञ्चोत्पत्तिस्वीकारेण न लाघवमिति वाच्यम् । शतादिसं-

नारायणी ।

हितस्य घटकारणत्वेन दण्डाश्रितस्य कारणत्वस्य दण्डत्ववृत्तिता यथा वा दण्डत्वोपहितस्यैव दण्डत्ववत्त्वेन दण्डाश्रितस्य दण्डत्वस्य स्वाश्रितत्वम्] अज्ञाननानात्वादिति । कस्मिंश्चिज्जीवे मुक्तेऽपि कस्यचिद्बन्धोपलम्भाज्जीवभेदप्रयोजकं जीवोपाध्यज्ञाननानात्वं कल्प्यते इत्यर्थः । अन्यथा 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवदि'त्यादिश्रुतिविरोधापत्तेरिति भावः । जीवाज्ञानकार्यत्वात् स्वप्नवत् प्रपञ्चोऽपि प्रतिजीवं भिन्न एव परिणामिविवर्तोपादानयोर्भेदादित्याह--प्रतिजीवमिति । युगपदनेकपुरुषीयभ्रमसिद्ध्यानेकप्रातीतिकपदार्थवदपेक्षाबुद्धिजन्यानेकपुरुषीयद्वित्वादिवच्च जीवभेदेन विपदादिप्रपञ्चनानात्वमित्यर्थः । एकाज्ञाननाशेप्यन्याज्ञानकार्याकाशादीनां दर्शनात्प्रपञ्चनानात्वमिति भावः । वस्तुतस्तु सकलजीवाविद्याभिरेक एव प्रपञ्चो जन्यते, एकस्मिन्मुक्ते च महापटनाशे खण्डपट इव महाप्रपञ्च नाशे खण्डप्रपञ्च इति प्रपञ्चभेद इत्यन्यत्र विस्तरः ।

(१)—अज्ञानोपहितत्वात् जगदुपादानत्वमिति कपुस्तके ।
(२) जीवे मुक्तेपि इति घपुस्तके । (३) उच्छेदेन द्वितीयक्षणे इति घपुस्तके ।

न्यायरत्नावली ।

व्यपुरुषाणां युगपत् मुक्तिस्थले शताद्यज्ञानव्यक्तीनां युगपन्नाशेन तावदज्ञानभेदेऽपि प्रपञ्चभेदाभावात् । युगपन्नानाप्रपञ्चस्वीकारे युगपदुत्पन्ननानाऽऽकाशादिषु नानापुरुषैः युगपदनुभूयमानानन्तसंयोगादिव्यक्तिकल्पने गौरवाच्चेति चेन्न । सृष्टिप्रलयवाक्यैस्तावत् परिमितप्रलयकालोत्तरमाकाशादीनां क्रमेण सृष्टिबोधनात् । युगपदेवाकाशादिसर्वप्रपञ्चोत्पत्तौ मानाभावात् । तत्तदसाधारणकारणसमवधानं विना उक्तद्वितीयक्षणे उपलभ्यमानसर्वकार्योत्पत्त्यसम्भवात् । (१)तत्तदसाधारणकारणानां हेतुहेतुमद्भावापन्नानामपेक्षणे चानेकक्षणेषु तत्तत्कार्योपलम्भापलापापत्तेः । न हि क्रियोत्पत्तिद्वितीयक्षणे प्रपञ्चोच्छेदे विभागाद्युत्पत्तिस्सम्भवति । किञ्च जीवस्य जगदुपादानत्वबोधिका—

पुरत्रये क्रीडति यस्तु जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम् ।

इत्यादिश्रुतिः, अज्ञानस्य तद्बोधिका 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' (सृष्ट्वा प्रविश्य) 'अमूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैवे'ति श्रुतिश्च । एकवचनान्तानां जीवमायामूढपदानां स्वारस्यात् एकैकजीवस्याज्ञानस्य च जीवाज्ञानान्तरनिरपेक्षोपादानत्वं बोधयति । त्वत्पक्षे तु तद्बा-

नारायणी ।

नन्वविद्या यदि जीवाश्रिता तदा ब्रह्म कथं प्रपञ्चोपादानं परिणममानाऽविद्याश्रयत्वाभावादित्यादिशङ्कयानावृतत्वेन जडशक्त्ययोगान्न ब्रह्मण उपादानत्वं किन्तु'पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रमि'ति श्रुतेर्जीवस्यैवेत्याह—जीवस्यैवेति । नन्वज्ञानाश्रयस्याज्ञानप्रेरकत्वाद्ययोगात्कथं कर्तृत्वादिकं तत्राह—अज्ञानेति । अज्ञानरूपोपाधिना परिच्छिन्नत्वादित्यर्थः । तथा चाज्ञानस्योपाधित्वेन जीवत्वानाश्रयत्वाज्जीवशरीरेऽप्रवेशादज्ञानोपहितस्य कर्तृत्वादिकं सम्भवत्येवेति भावः । उपहितरूपेण जीवचैतन्यं सृष्टिस्थितिसंहारे कारणं विशिष्टरूपेण भ्रान्तमिति नि-

(१) तत्तदसाधारणानामिति गपुस्तके ।

जगदुपादानत्वात् । प्रत्यभिज्ञा चापि सादृश्यात् ।

न्यायरत्नावली ।

धस्स्यात् । तथा च साधूक्तं–'प्रतिजीवं प्रपञ्चभेद' इति । पुरत्रये–विराड्हिरण्यगर्भाव्याकृतरूपे । नन्वेवं 'यो घटो मया दृष्टः स एव त्वये'ति प्रत्यभिज्ञा न स्यात् तत्राह—प्रत्यभिज्ञेति । सादृश्यादिति । (१)दृष्टत्वरूपसाधारणधर्मविषयकात् त्वद्दृष्टो मद्दृष्ट इत्याकारकेत्यर्थः। त्वद्दृष्टव्यक्त्यभेदस्य मद्दृष्टव्यक्तावभावेऽपि मदीयप्रपञ्चान्तर्गतस्य मया कल्पितस्य व्यावहारिकस्य मद्दृष्टव्यक्तिनिष्ठस्य त्वद्दृष्टत्वस्य उक्तप्रत्यभिज्ञाविषयता । यद्यपि मद्दृष्टत्वं तादृशं मद्दृष्टव्यक्तावेव वर्तते, न तु त्वद्दृष्टे, तथापि त्वद्दृष्टतात्वस्य त्वद्दृष्टत्वे त्वत्कल्पिते सत्त्वात् एकजातीयस्य त्वद्दृष्टत्वस्य सादृश्यत्वसम्भवः । न हि घटादिरिव घटत्वादिरपि जीवभेदेन भिन्नम्, येन त्वद्दृष्टतात्वमपि तथा स्यात् । सादृश्यप्रत्ययबलेन हि जातिमात्रं सर्वजीवज्ञेयमेकमेव स्वीक्रियते । तथा च त्वद्दृष्टतायाः त्वद्दृष्टवृत्तिरूपादिस्वरूपत्वेन तद्वृत्तिजातिविशेषस्यैव त्वद्दृष्टतात्वरूपत्वेन तद्घटितं सादृश्यम् । न च तथापि 'त्वदीयत्वद्दृष्टवृत्तिरूपादिजातीयरूपवान् मद्दृष्ट' इति ज्ञानासम्भवः, अन्यदृष्टस्य अन्येन ज्ञातुमशक्यत्वादिति वाच्यम् । तथाऽपि वस्तुगत्या त्वद्दृष्टरूपवृत्तिजातिविषयाकारस्य ज्ञानस्य सम्भवेन तस्यैव प्रकृते प्रत्यभिज्ञापदार्थत्वात् । एवञ्च तत्त्वज्ञानं स्वाश्रयजीवमात्रदृश्यस्यैवो-

नारायणी ।

च्छेदकः । ननु यदि जीव एवोपादानं प्रतिजीवं च प्रपञ्चभेदस्तर्हि कथं 'यो घटस्त्वया दृष्टः स एव मये'ति प्रत्यभिज्ञा तत्राह—प्रत्यभिज्ञा चेति । 'त्वया दृष्टो मया दृश्यत' इत्याद्याकारिकेत्यर्थः। सादृश्यादिति । युगपद्भ्रमासिद्धानेकसर्पादाविव तदेवेदमौषधमित्यादाविव च तद्वृत्त्यसाधारणधर्मवत्त्वादित्यर्थः । धर्मिणां प्रतिजीवं भेदेऽपि धर्माणामभेदात्प्रत्यभिज्ञोपपद्यत

(१) स्वरूपासाधारणधर्मविषयकादिति घपुस्तके ।

च्छेदकं न तु जातेः। अथवा—

येयं गङ्गा नरैस्सेव्या सेव्यते सा सुरादिभिः।
सर्वेषां पावनी सैका प्रयच्छति परं पदम् ॥

इत्यादिपुराणादिवाक्यमूलार्षप्रत्यभिज्ञैवात्र प्रत्यभिज्ञापदार्थः। आर्षज्ञानस्य देवनरादिदृष्टगङ्गादिरूपवतीयं गङ्गेत्याकारकस्य (१)सर्वजीवप्रपञ्चग्राहकत्वात्। वस्तुतस्तु सर्वजीवाज्ञानजन्यनानागङ्गादीनां सर्वजीवग्राह्यत्वेऽपि न क्षतिः। एकस्य तत्त्वज्ञानेनापरस्य प्रपञ्चानुच्छेद इत्येतदर्थमेव प्रपञ्चभेदस्वीकारात्। तथा च त्वद्दृष्टस्यापि मम ग्रहणात् ऐक्यप्रत्यभिज्ञा सम्भवत्येव। प्रत्यभिज्ञा चेत्यादिमूलं तु 'पूर्वदिने मुक्तो यः पुरुषः तद्दृष्टो घट इदानीं मया दृष्ट' इत्यादिधियः सादृश्यविषयकत्वपरम्। तत्र तद्दृष्टस्य इदानीमभावेन मद्दृष्टे तदैक्यविषयत्वासम्भवात्। यद्यपि=जीवनिष्ठाज्ञानविषयब्रह्मोपादानकं जगत्, अविद्या तु प्रमातृदोषविधया जगतो निमित्तकारणम्, न तूपादानम्, ब्रह्मनिष्ठजगतो व्यधिकरणत्वात्, न हि शरावादिनिष्ठदुग्धादेः घटादिनिष्ठदध्यादिरूपपरिणामस्सम्भवतीति कल्पतर्वादौ वाचस्पत्याशयो वर्णितः=तथापि मायोपादानत्वज्ञापिकायाः 'त्रयमप्येतत् सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रम्, मायां तु प्रकृति'मित्यादिश्रुतेः स्वारस्यात्, जीवोपादानत्वपरतयापि वाचस्पतिवाक्यानां नेतुं शक्यत्वात् जीवोपादानत्वश्रुतेश्च जीवोपादानत्वमुक्तम्। एवञ्चाज्ञानविषयस्यापि जीवस्य परिणामिकारणाज्ञानाश्रयत्वादेव उपादानत्वं न विरुद्धम्। ब्रह्मणश्चानुपादानत्वेऽपि तज्ज्ञानमेवाज्ञाननिवर्तकम्, समानविषययोरेव ज्ञानाज्ञानयोः नाश्यनाशकभावस्य क्लृप्तत्वात्। 'इदं रजत'मित्यादिभ्रमस्थलेऽपि पल्लवाविद्यापरिणामरजताद्युपादा-

(१) सर्वजीवीयप्रपञ्चेति घपुस्तके।

ईश्वरस्य च सप्रपञ्चजीवाविद्याधिष्ठानत्वेन कारणत्वोपचारादिति। अयमेव चावच्छेदवादः। अज्ञानोपहितं

न्यायरत्नावली।

नत्वमुक्ताविद्याश्रयत्वात् जीव एव। तस्यैव शुक्त्याद्युपादानत्वात् शुक्त्याद्यवच्छेदेन जीवगतरजतादिप्रतीतिरुक्ताविद्यायाः शुक्त्याद्यवच्छिन्नचिद्विषयकत्वात् तादृशज्ञाननाश्यत्वम्। ईश्वरस्येत्यादि। जीवो न जगदुपादानम् किन्तु ईश्वर इत्यादिशास्त्रीयवाक्येषु उपादानपदमुपादानभूतजीवनिष्ठाविद्याविषयपरमित्यर्थः। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिश्रुतिस्तु ब्रह्मणः जगत्कारणत्वं (१)बोधयती जीवब्रह्माभेदपरा इति बोध्यम्। अवच्छेदवाद इति।

घटसंवृतमाकाशं नीयमाने घटे यथा।
घटो नीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपमः॥

नारायणी।

इति भावः। ननु जीव एव जगदुपादानं तर्हि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्त' इति श्रुतिविरोधः, तत्रेश्वरस्यैव जगत्कर्तृत्वप्रतिपादनादित्यत आह-ईश्वरस्य चेति। मायाविषयस्येत्यर्थः। सप्रपञ्चेति। प्रपञ्चसहिता या जीवोपाधिभूताऽविद्या तदधिष्ठानत्वेन-तद्विषयत्वेन (२)गौणकारणताव्यवहारात्। अभिन्ननिमित्तोपादानकत्ववादिनां वेदान्तिनां मते यत्र कर्तृत्वादिना निमित्तत्वं तत्रैवोपादानत्वं मुख्यं वाच्यं तदुभयं च स्वप्नं प्रतीव प्रपञ्चं प्रत्यपि जीवस्यैवाविद्याश्रयत्वेन सम्भवति न ब्रह्मणः, अतः शुक्त्यादेरिवाविद्याविषयत्वेनैवोपादानत्वं भाक्तं न मुख्यमिति भावः। ननु तर्हि मायोपाधिकानां रामकृष्णादीनामनुपास्यत्वं स्यादिति चेत्। भ्रान्तोसि। जीवाज्ञानविषयस्य ब्रह्मण एव भक्त्यादिवशाद्रामकृष्णादिना प्रादुर्भावस्य भक्तिकृतफलसद्भावादेश्चाङ्गीकारात्, रजताद्यात्मना दोषवशात् शुक्त्यादेरिवेत्यन्यत्र विस्तरः। अयमेव-अविद्यावच्छिन्नानवच्छिन्नावेव जीवेशाविति पक्षः। अवच्छेदवादः-महाकाशस्य घटाकाशादिरिव जीवः शुद्ध-

(१) बोधयति जीवब्रह्माभेदपरेति पाठस्तु सर्वत्रोपलब्धोपि प्रामादिक एव।
(२) कारणत्वोपचारात्-इति प्रतीको भ्रष्टोत्र लेखकदोषादिति।

बिम्बचैतन्यमीश्वरः, अज्ञानप्रतिबिम्बचैतन्यं जीव इति वा, अज्ञानानुपहितं शुद्धचैतन्यमीश्वरः, अज्ञानो-

न्यायरत्नावली ।

इत्यादिश्रुतयो जीवस्यावच्छिन्नरूपत्वबोधिकाः । अज्ञानोपहितमित्यादि । जीवोपाधौ मनो न निवेश्यते, हस्तपादाद्यवच्छिन्नानामिव मनोवच्छिन्नानां भेदेऽपि जीवभेदास्वीकारात् । परन्तु अज्ञानमेवोपाधिः । तस्य चैकत्वमेव, लाघवात् । 'मायान्तु प्रकृति'मजामेका'मित्यादिश्रुतिसिद्धैकवचनादिति भावः । अज्ञानानुपहितमिति । अज्ञानोपहितात् भिन्नमित्यर्थः । नन्वीश्वरस्याज्ञानानुपहितत्वे प्रपञ्चमध्ये अवस्थानं न स्यात् , तथा च 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्नि'तिश्रुतिविरोधस्स्यादिति बिम्बप्रतिबिम्बरूपेश्वरजीववादिभिः विवरणकारैरवच्छेदवादे दूषणमुक्तम्, तत्राह—शुद्धमिति । तथा चोपहिते जीवचैतन्ये अधिष्ठानतया केवलचैतन्यस्य तादात्म्यमवश्यं वाच्यमिति प्रपञ्चमध्ये तदवस्थाने न कोपि दोष

नारायणी ।

स्य परमात्मनोंऽश इति वादः । शब्दार्थस्तु अवच्छिद्यते 'अयमयं न भवति, अयमेतादृशगुणक' इति परिच्छेदः प्राप्यते इत्यवच्छेद इति । एतन्मतनिष्कर्षस्त्वस्मत्कृतसिद्धान्तबिन्दु(१)गुरुटीकायां द्रष्टव्यः । प्रपञ्चभेदे जीवभेदे च गौरवान्नावच्छेदवादो युक्तः किन्तूपहितावेव जीवेशाविति दृष्टिसृष्टिपक्षमाह—अज्ञानेति । अज्ञानोपहिताद्भिन्नमित्यर्थः । शुद्धं-सर्वज्ञत्वादिधर्मातीतं सच्चिदानन्दमात्रस्वरूपम् । न च तस्य 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्नि'त्याद्यन्तर्यामित्वबोधकश्रुतिविरोधः, निरुपाधिकस्य तस्य प्रपञ्चेऽवस्थानायोगादन्तर्यामित्वाद्यसम्भवादिति वाच्यम् । स्वतोऽवस्थानायोगेऽपि जीवचैतन्याधिष्ठानस्य जीवद्वाराऽवस्थानसम्भवान्न कोऽपि दोषः । 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते' इत्यादिश्रुत्या जीवस्याज्ञानोपाधिकत्वश्रवणात् । अज्ञानोपाधिकं चैतन्यं जीवः । अज्ञानोपाधिकत्वेऽपि न विशिष्टो न वाऽज्ञानप्रतिबिम्बितः किन्तूपहित एवेत्याह—अज्ञानेति । अज्ञानोपाधिना जी-

(१)—सिद्धान्तबिन्दुविवरणे द्रष्टव्य इति खपुस्तके । कपुस्तके तु गुरुटीकायामिति पाठः ।

पहितं जीव इति वा मुख्यो वेदान्तसिद्धान्तः एकजीववादाख्यः। इममेव दृष्टिसृष्टिवादमाचक्षते । अस्मिंश्च

न्यायरत्नावली।

इति भावः। ईश्वरस्य जगदुपादानत्वे स्रष्टव्यालोचनं कल्पमवश्यमधिष्ठानाद्यभिन्नकर्तृककार्यं प्रति कर्तव्यत्वेन तदालोचनस्य हेतुत्वात्, मायाविकर्तृकेन्द्रजालादौ तथा दृष्टत्वात्। जीवस्य जगदुपादानत्वे तु तन्न कल्प्यम्, स्वापादिरूपकार्यं प्रति तदहेतुत्वस्य दृष्टत्वात्, तथा च लाघवात् जीवस्यैव जगदुपादानत्वामित्याशयेनाह-अस्मिंश्चेत्यादि। स्वाज्ञानवशात्-स्वं प्रति आवारकं यद-

नारायणी।

वत्वेन ज्ञापितं न त्वज्ञानविशिष्टत्वेन जीव इत्यर्थः। नाज्ञानवैशिष्ट्यान्मनोवैशिष्ट्याद्वा जीवानां भेद उचितः। तथा च सति हस्ताद्यवच्छिन्नत्वादिनापि प्रातीतिकानन्तभेदापत्तेरिति गौरवम् अतोऽज्ञानमेकं तदुपाधिको जीवोऽप्येक एवेति वादोऽतिप्राचीनाभिमतो युक्त इत्यभिप्रेत्य प्रकृतवादमुररीकरोति-मुख्येति। मुख्यत्वं च 'तदेतत्त्रयं स्वप्नमायामात्रमि'त्यादिश्रुत्या स्वप्नसमर्थनेन स्वप्नदृष्टान्तसलिलधारया समस्तशङ्कामलप्रक्षालनात्। एकजीववादाख्यः-एक एव स्वप्नद्रष्टेव सजीवजीवः (१)अन्ये स्वप्नकल्पिता निर्जीवजीवा इत्येकजीववादाख्यः।अथवा सर्वत्र समष्टिजीवो हिरण्यगर्भाख्यो मुख्योऽज्ञानोपहिता अन्येऽन्तःकरणावच्छिन्ना व्यष्टिभूता जीवाभासा इति सविशेषानेकशरीरैकजीववादः। यद्वा कायव्यूहादाविवैकेनैव जीवेन सर्वशरीरेष्वहमित्यादिव्यवहार इत्येकजीवेन सर्वशरीरसजीववादः। इममेव। मतभेदेन त्रिविधमपि एकाज्ञानोपाधिकमेकजीववादम्, दृष्टिरेव जगतः सृष्टिः न त्वीशसृष्टस्य प्रमाणादिना जीवस्य दृष्टिरिति वादम्, आचक्षते-कथयन्ति। प्राचीना इति शेषः। अस्मिन्पक्षे-दृष्टिसृष्टिपक्षे, स्वाज्ञानवशात्-स्वं प्रत्यावरकं यदज्ञानं तद्वशात्, जगदुपादानं-स्वस्मिन्स्वप्नवत्सर्वकार्यकल्पके स्वाविद्यया स्वप्नवद्विषयाकारेण विवर्तमानमिति यावत्। निमित्तं च कर्ता, कर्तृत्वं च कार्यानुकूलज्ञानवत्त्वमात्रं (२)(न तु स्रष्टव्यालोचनवत्त्वम् रजतादिभ्रमे तस्य हेतुत्वात् वियदादिभ्रमे तदनपेक्षणात्। कार्यानुकूलं

(१) अन्ये स्वप्न इव कल्पिताः निर्जीवा जीवा इति खपुस्तके।
(२) (......) अयं पाठः खपुस्तके नास्ति।

पक्षे जीव एव स्वाज्ञानवशात् जगदुपादानं निमित्तं च।
दृश्यं सर्वं प्रातीतिकम्। देहभेदाच्च जीवभेदभ्रान्तिः।

न्यायरत्नावली।

ज्ञानं तद्वशात्। जीव एव उपादानं निमित्तं कर्ता च, नेशः; उक्तरीत्या कार्यालोचनकल्पने गौरवादिति भावः। दृश्यमज्ञानतत्प्रयुक्तं प्रातीतिकं यदा यदा त्रियते, तदाऽवश्यं ज्ञायते। साक्षिस्वरूपेण जीवेन स्वनिष्ठं सर्वं विद्यमानतादशायां प्रकाश्यते, न तु तत्रावरणं तद्भञ्जकमनोवृत्तिर्वा कल्प्यते, गौरवादिति भावः। देहभेदादित्यादि। देहावच्छिन्नानां भेदेऽपि अविद्यावच्छिन्नरूपेण

नारायणी।

त्राधिष्ठानज्ञानम्, तच्च जीवस्यैव अन्यथा भ्रमानुपपत्तेः। तथा च यथा स्वप्नभ्रमे आलोचनाभावेऽपि स्वात्मकाधिष्ठानप्रकाशेन स्वस्य जगदात्मना विवर्तमानत्वेनोपादानत्वं तदनुकूलज्ञानवत्त्वेन निमित्तत्वं च, एवं प्रपञ्चेऽपि। ईशस्य च तदुपादानत्वकल्पने तु मायाविकर्तृकेन्द्रजालादाविव आलोचनमपि कल्पनीयम्। न च तद्युक्तं गौरवात्) तथा च स्वप्न इव स्वाविद्यया जगदादिरूपेण विवर्तमानत्वादुपादानत्वं तदनुकूलज्ञानवत्त्वाच्च निमित्तत्वमिति यावत्। ननु कथमावृतस्य जीवस्य तदनुकूलज्ञानवत्त्वम् सर्वज्ञस्यैव तत्सम्भवादित्यत आह—दृश्यं चेति। अज्ञानतत्कार्यजातम्। प्रातीतिकं—प्रतीतिमात्रकालिकम्, तथा च यद्यनादिमायया साक्षिभास्यया जगदुत्थाप्यते तदावश्यं साक्षिरूपेण जीवेन स्वस्मिन्कल्पितं कार्यं स्वप्नवत्प्रकाश्यत एव न तत्रावरणं तद्भञ्जकमनोवृत्तिर्वा कल्प्यते गौरवात्। इन्द्रियान्वयव्यतिरेकौ स्वप्न इव नेयौ तथा च प्रमाणमन्तरेणैव स्वसन्निहितसर्वावभासकत्वाज्जीवस्यापि सर्वज्ञत्वेन स्रष्टृत्वोपपत्तिरिति भावः। नन्वेकजीववादपक्षे चैत्रो न मैत्र इत्यादिभेदप्रत्यक्षविरोधस्तत्राह—देहेति। देहावच्छिन्नानां प्रातीतिकभेदेऽप्यविद्यावच्छिन्नरूपेणैक्यं न विरुद्धमिति भावः। अत एव चैत्रसुखादीनां मैत्रेणाननुसन्धानमपि देहावच्छिन्नानामिव अन्तःकरणावच्छिन्नानामपि प्रातीतिकभेदाङ्गीकारात्। अविद्यावच्छिन्नस्य चैतन्यस्य सर्वानुसन्धातृतायामिष्टापत्तेरित्यादि महद्व्याख्याने प्रपञ्चितमस्माभिः। नन्वेकजीववादे वस्तुत उपदेष्टव्यादन्यस्योपदेष्टरभावात्सर्वज्ञस्याऽसर्वज्ञस्य वा शास्त्राभा-

एकस्यैव च स्वकल्पितगुरुशास्त्राद्युपबृंहितश्रवणमननादि-दार्ढ्यादात्मसाक्षात्कारे सति मोक्षः । शुकादीनां च मोक्षश्रवणं त्वर्थवादः । महावाक्ये च तत्पदमनन्तस-त्यादिपदवदज्ञानानुपहितचैतन्यस्य लक्षणयोपस्थापक-

न्यायरत्नावली ।

जीवैक्यं न विरुद्धमिति भावः । अर्थवादः-श्रवणादेर्विधेयस्य स्तुतिः । ननु 'तत्त्वमसी' ति वाक्ये तत्पदं न प्रक्रान्तेशपरम् , 'तत्तेजोऽसृजते'त्यादिपूर्ववाक्येन जगत्कारणजीवस्यैव प्रक्रान्तत्वेनासङ्गतेः, तथा च श्रुतिविरुद्धोऽयं पक्षः तत्राह-सत्यादिपदवदिति । यथा सत्यादिपदं जगत्कारणत्वादिप्रक्रान्तरूपमनुपस्थाप्य लक्षणया शुद्धोपस्थापकं तथा तत्पदमपि द्वारम् , (१)न तु सत्यादिपदेषु सत्यत्वादिविशिष्टोपस्थितिः, तत्पदे युगपत् सर्वज्ञरूपप्रसिद्धार्थोपस्थितिरिति भावः । ननु 'यस्सर्वज्ञस्सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपस्तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नञ्च जायत' इति श्रुत्या जगत्कारणे

नारायणी ।

वाच्च कथमुपदेशसाक्षात्कारादिकं तत्राह-एकस्यैवेति । स्वप्न इव तत्त्वमस्यादिवाक्यवक्तृत्वादिना कल्पितगुरुशास्त्रादेरुपदेष्टृत्वकरणत्वादि-सम्भवान्न साक्षात्कारानुपपत्तिरित्यर्थः । नन्वेकजीवपक्षे कथमस्माकमिदानीमप्यनिर्मोक्षः, शुकादीनां मोक्षेणास्माकमपि मोक्षौचित्यात्, तेषामनिर्मोक्षे तु तन्मुक्तिप्रतिपादकशास्त्रविरोधोऽस्मदादीनामनाश्वासप्रसङ्गश्चेत्यत आह--शुकेति । अर्थवादः--विधेयस्य श्रवणादेः स्तुतिः । अयं भावः । स्वप्नन्यायेन कल्पिततद्भेदतत्तन्मुक्तानुवादकानां तत्परत्वाभावात् ज्ञानतत्साधकश्रवणादिस्तुतिमात्रपरत्वं नात्मभेदमुक्त्यादिमात्रपरत्वम् , तथाऽस्मदादीनां शास्त्रप्रामाण्यादेव प्रवृत्त्युपपत्तेश्चेति न कोपि दोष इत्यन्यत्र विस्तरः । ननु यदि जगदुपादानं जीव एव तदा तत्पदस्येशपरामर्शकत्वानुपपत्तिः, 'तत्तेजोऽसृजते'त्यादिना भवन्मते जीवस्यैव प्रक्रान्तत्वात्तत्राह-महावाक्येति ।तत्त्वमस्यादिमहावाक्ये चेत्यर्थः। सत्यादिपदवत् । यथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तमि'तिवाक्ये सत्यादिपदम् 'तस्मा-

(१) द्वारन्तु सत्यादिपदेति घपुस्तके ।

मित्याद्या अवान्तरभेदाः स्वयमूहनीयाः । ननु वस्तुनि विकल्पासम्भवात् कथं परस्परविरुद्धमतप्रामाण्यम्,

न्यायरत्नावली ।

जीवे सर्वज्ञत्वबोधानुपपत्तिः तत्राह—इत्यादीति । उक्तश्रुतौ सर्वविषयकज्ञानवत्त्वमात्रं विवक्षितम्, न तु युगपत् सर्वज्ञानवत्त्वम्, तथा च जीवस्यापि क्रमेण तत्सम्भवान्न दोषः । अथवा युगपत्सर्वज्ञा(१)भेदो जीवे उक्तश्रुत्या बोध्यते, 'यतो वे'त्यादिश्रुतिवदिति भावः । वस्तुनि—पुरुषप्रयत्नानिष्पाद्ये, विकल्पासम्भवात्—विरुद्धपक्षद्वयबोधकवाक्ययोः प्रामाण्यासम्भवात् । प्रयत्नसाध्ये विरुद्धनानापक्षबोधकयोरनुष्ठानपरत्वसम्भवेन कालभेदेन तद्बोधनात् प्रामाण्यसम्भवः न तथाभूतवाक्ययोरिति भावः । अतथाभूतवाक्ययोः प्रामाण्यासम्भवेऽपि विचित्ररुचिनानापुरुषीयनानाविधक-

नारायणी ।

द्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' इत्यादिना जगत्कारणत्वेन प्रतिपद्यमानमप्यपरामृश्य सत्यत्वाद्युपस्थितिद्वारा लक्षणयाऽबाधितं सद्व्यक्तिमात्रं बोधयति । यथा तत्पदमपि सर्वज्ञत्वाद्यारोपितधर्मोपस्थितिद्वाराऽनुपहितं चिन्मात्रं बोधयति तत्रैव तात्पर्यादिति न कोपि दोषः । ननु तान्त्रिकानुभवविरुद्धेयं व्युत्पत्तिस्तत्राह –इत्यादीति । 'तत्तेजोऽसृजते-' त्यादिना प्रतिपादितं तत्सत्यमित्यत्र तत्पदेनानूद्य सत्यमित्यनेन परमात्मत्वं प्रसाध्य पुनः स आत्मेति व्यतिहारेणाभेदं प्रदर्श्य सिद्धमभेदं 'तत्त्वमसि' इत्यनेन दृढीकरोति । तत्र त्वंपदं लाक्षणिकं तत्पदन्त्वाकाशादिपदवद्धर्मिमात्रस्य शक्त्या बोधजनकमित्यवान्तरभेदा इति भावः । मतनिष्कर्षस्त्वस्मदीयमहद्व्याख्यानेऽनुसन्धेयः । नन्वेकरूपे प्रयत्नानिष्पाद्ये वस्तुनि कथं परस्परविरुद्धमतानि कथं वा तेषां प्रामाण्यमित्याशङ्कते—नन्विति । वस्तुनि—पुरुषप्रयत्नानिष्पाद्ये, विकल्पासम्भवात्—विरुद्धानेकपक्षसमावेशासम्भवात् । प्रयत्नसाध्ये कर्मणि कालविषयभेदादिना षोडशिग्रहणादीनां व्यवस्था सम्भवति न तथाभूते विरुद्धपक्षाणामिति भावः । किं प्रयत्नानिष्पाद्ये विरुद्धकोटिरेव न सम्भवति? ओ-

(१) सर्वज्ञेशाभेद इति घपुस्तके ।

तस्मात् किमत्र हेयं किमुपादेयमिति चेन्न । क एवमाह ? वस्तुनि विकल्पो न सम्भवतीति । स्थाणुर्वा पुरुषो वा राक्षसो वेत्यादिविकल्पस्य वस्तुन्यपि दर्शनात् । अतात्त्विकी सा कल्पना पुरुषबुद्धिप्रभवा इयं तु शास्त्रीया जीवेश्वरविभागादिव्यवस्थेति चेत् । नूनमतिमेधावी भवान् । अद्वितीयात्मतत्त्वं हि प्रधानं फलवत्त्वादज्ञातत्वाच्च प्रमेयं शास्त्रस्य । जीवेश्वरविभागादिकल्पनास्तु

न्यायरत्नावली ।

ल्पनानुवादकत्वमिति सिद्धान्तयितुं दृष्टान्तमाह—क एवमाहेत्यादि । शास्त्रीया—तत्त्वावेदकशास्त्रतात्पर्याधीना । प्रधानम्—इतरप्र-

नारायणी ।

होस्विद्विरुद्धकोटिमत्त्वादप्रमाण्यात्फलवत्त्वं न सम्भवतीत्यभिप्रायः ? तत्राद्ये व्याघातः । द्वितीये साक्षात्फलवत्त्वाभावे इष्टापत्तिरेवेत्यभिप्रायेण सिद्धान्तयितुमुपक्रमते—क एवमिति । विकल्पमात्रेण न तवेष्टसिद्धिः, प्रकृते शास्त्रीयविकल्पव्यवस्थाया आवश्यकत्वात् । तव च सा कठिनेत्यभिप्रायेणाशङ्कते—अतात्त्विकीति । परम्परयापि फलवत्त्वशून्या सा कल्पना—संशयात्मिका धीः । पुरुषबुद्धिमात्रप्रभवा—कोटिद्वयोपस्थितिजन्या । मात्रपदं तात्पर्यप्रयुक्तत्वं वारयति । शास्त्रीया—शास्त्रतात्पर्याधीना । तथाचैकतरप्रामाण्यनिश्चय आवश्यक इति भावः । अनुवादकस्याप्यनूद्यांशे तात्पर्यं वदन्भवान्न पण्डितः किन्तु केवलं श्रुतिभारवाहक एवेत्युपहसन्समाधत्ते—नूनमिति । स्वाभिप्रायं विशदयति—अद्वितीयेति । जीवपरमात्मनोरभेदरूपात्मतत्त्वं हीत्यर्थः । प्रधानम्—इतरप्रधानोपकार्यप्रतिपत्तिकं, फलवत्त्वात्—ज्ञानद्वारा साक्षान्मुक्तिरूपफलवत्त्वात्, अज्ञातत्वाच्च—मानान्तरानधिगतत्वरूपापूर्वत्वाच्च । प्रमेयं—तात्पर्यविषयः ।

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

इतिश्रुत्या प्रकृतलिङ्गषट्कोपेत एव श्रुतीनां तात्पर्योक्तेः । अस्ति च छान्दोग्यषष्ठादावद्वैते(१) 'एकमेवाद्वितीयमि'त्युपक्रमः । 'ऐतदात्म्यमिदं

(१) अस्ति च छान्दोग्येऽद्वैते एव फलवत्त्वमिति तत्रैव तात्पर्यं नान्यत्रेत्यन्वयः ।

पुरुषबुद्धिप्रभवा अपि शास्त्रेणानूद्यन्ते, तत्त्वज्ञानोपयोगित्वात्, 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति न्यायात्, भ्रमसिद्धस्यापि श्रुत्यानुवादसम्भवात्। एतेन द्वैतज्ञाने-

न्यायरत्नावली।

तिपादनोपकार्यप्रतिपत्तिकम्। तदङ्गं-तदुपकारकम्। भ्रमसिद्धस्य-स्वाप्नप्रपञ्चस्य। श्रुत्या-स्वप्रबोधकश्रुत्या। एतेन-अद्वैतज्ञा-

नारायणी।

सर्व'मित्युपसंहारः। 'तत्त्वमसी'ति नवकृत्वोऽभ्यासः। 'आचार्यवान्पुरुषो वेदे'त्यपूर्वत्वम्। 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य' इति—फलवत्त्वम्। 'येनाश्रुतं श्रुतं भवती'त्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमर्थवादः। 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्याद्युपपत्तिश्चेति तत्रैव शास्त्रतात्पर्य (१)नान्यत्रेत्यन्यत्र विस्तरः। मूले चात्र फलवत्त्वाज्ञातत्वयोर्द्वयोरेव प्रदर्शनं प्रमाशरीरे तावन्मात्रप्रवेशादिति संक्षेपः। जीवेश्वरकल्पनाया अपूर्वत्वं प्रतिक्षिपन् तात्पर्यविषयत्वं प्रतिक्षिपति—जीवेति। जीवेश्वरविभागस्त्वित्यर्थः। पुरुषेति। भिन्नभिन्नपुरुषीयानेकप्रतिभातिमात्रजन्या अपि। शास्त्रेण—दर्शितश्रुत्या। पुरुषबुद्धिमात्रकल्पितत्वेऽपि तेषामेवानुवादे बीजमाह—तत्त्वज्ञानेति। लक्षणया शुद्धचिद्बोधानुकूलविशिष्टोपस्थितिविषयत्वादित्यर्थः। तत्त्वज्ञानोपयोगित्वं शरीरादेरप्यस्तीत्यत आह—फलवत्सन्निधाविति। स्वातन्त्र्येण फलजनकसन्निधौ पठ्यमानम्, अफलम्—स्वातन्त्र्येण फलाजनकम्, तदङ्गं—प्रधानाङ्गं प्रधानोपकारकमिति यावत्। यथा दर्शपूर्णमासादेः प्रयाजादिकम्। भ्रमेति। भ्रममात्रशरीरजाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याद्युपाधिकत्वेन भ्रमसिद्धस्यापि विश्ववैश्वनरादेः, श्रुत्या—'सोऽयमात्मा चतुष्पा'दित्यादि श्रुत्या। श्रुतीनामद्वैतपरत्वं 'सन् घट' इत्यादिप्रत्यक्षादिविरोधान्न सम्भवति, न च द्वैतश्रुतिविरोधेन प्रत्यक्षादेरेव प्रामाण्यमिति वाच्यम्, प्रत्यक्षस्यैव सर्वप्रमाणोपजीव्यत्वेन बलवत्त्वाद्विनिगमकाभावाच्चेति जल्पितमतिदेशेन निराकरोति—एतेनेति। अद्वैतस्य फलवत्त्वापूर्वत्वादिनो वास्तवत्वेनेत्यर्थः। द्वैतज्ञानेन—'सन् घट' इत्यादिद्वैतप्रत्यक्षेण, अद्वैतज्ञानस्य—'नेह नानास्ति किञ्चने'त्यादिश्रुतिबोधिताद्वैतज्ञानस्य, सर्वमिथ्यात्वेन शुद्धाखण्डा-

(१) नान्यत्रेत्यन्यत्र विस्तर इति कपुस्तके नास्ति।

नाद्वैतज्ञानस्य बाधो निरस्तः। घटादिद्वैतज्ञानस्यापि अद्वैतसन्मात्रांशे अज्ञाते प्रामाण्याभ्युपगमाच्च ज्ञाना-

न्यायरत्नावली ।

नस्य परमपुरुषार्थसाधनत्वाज्ञातविषयकत्वादिरूपबलवत्त्वसम्भवेन। ननु प्रत्यक्षादिप्रमाणानां सन्मात्रांश इव घटाद्यंशेऽपि प्रामाण्यं स्यात्, तथा च कथमद्वैतज्ञानं बलवत्तत्राह-घटादीत्यादि। सन्मात्रांशे न तु घटाद्यंशे। ननु घटादेरज्ञातत्वाभावेऽपि घटं पश्यामीत्यादिप्रतीत्या चाक्षुषादिविषयत्वसम्भवात्तदंशे प्रामाण्यं सम्भ-

नारायणी ।

र्थबोधस्य, बाधः-अवगतार्थत्वपरित्यागः। न केवलमद्वैतस्य बलवत्त्वात्प्रत्यक्षाद्यबाध्यत्वं किन्तु प्रत्यक्षादेः स्वार्थे प्रामाण्याभावादपीत्याह— द्वैतेति। सन्मात्रांशे—केवलशुद्धे न तु घटाद्यंशे। अज्ञाते—अज्ञातविषयतावति, प्रामाण्याच्च-अबाधितार्थविषयकत्वरूपप्रामाण्याच्च। चः पूर्वहेतुसमुच्चायकः। *(१) ननु कथं चक्षुरादिजन्यद्वैतज्ञानस्यापि सदंशे ब्रह्मण्येव प्रामाण्यं रूपादिहीनतया ब्रह्मणश्चक्षुराद्ययोग्यत्वात्। न च स्वरूपतोऽयोग्यत्वेऽपि चन्द्रावच्छिन्नत्वेन राहोरिव घटाद्यवच्छिन्नत्वेन योग्यतेति वाच्यम्। शब्दाद्यवच्छिन्नत्वेन गगनादेरपि योग्यताप्रसङ्गात्। राहोस्तु नीलस्य स्वतो योग्यस्य दूरदेशविशेषेणायोग्यस्य शुक्लभास्वरचन्द्रसम्बन्धाच्चाक्षुषत्वमिति विशेषत्वात्। न च-

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते।

इतिमीमांसकोक्तरीत्या कालस्येव ब्रह्मणो भविष्यतीति वाच्यम्। (२)तस्यापि अत एवानङ्गीकारात्। न चानुभवविरोधः। 'परमाणुवानयं देश इत्याद्यनुमानरूपज्ञानलक्षणयाप्युपपत्तेरिति चेत्। न।'इदानीं घट' इति स्वाधिकरणक्षणावच्छिन्नत्वेनानुभवस्य सार्वजनीनस्यापलापापत्तेः। न च रूपादिसामग्रीबाधात्कथमनुभवः स्यादिति वाच्यम्। प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रत्येव रूपादेर्हेतुत्वकल्पनात्। सर्वेन्द्रियग्राह्यं तु ब्रह्म कालश्च अतो न रूपादिहीनत्वेऽपि चाक्षुषत्वानुपपत्तिः। वस्तुतस्तु द्रव्यप्रत्यक्षं प्रत्येव रूपादेः कारणत्वात् न ब्रह्मणः कालस्य

(१) *...* एतच्चिन्हमध्यगः पाठो नास्ति खपुस्तके।

(२) तस्यापि कालस्यापि अत एव रूपाद्यभावादेव अनङ्गीकारात् चाक्षुषत्वानङ्गीकारात् इत्यर्थः।

ज्ञानयोरसमानाश्रयविषयत्वनियमात्। जडे च प्रमाण-प्रयोजनाभावेनाज्ञानानभ्युपगमात् (१)+तदवच्छिन्नचैत-

न्यायरत्नावली।

वति तत्राह—ज्ञानेत्यादि। तथा च चाक्षुषादिवृत्तेः समानविष-यकाज्ञाननिवर्तकत्वानुरोधेनाज्ञातचिद्विषयत्वेऽपि घटादिविषयकत्वे मानाभावः। घटं पश्यामीति साक्षिधीस्तु घटावच्छिन्नचिद्विषयक-चाक्षुषादि विषयीकुर्वन्ती चाक्षुषादिवृत्तेः विषयतावच्छेदकत्वेन घटादिकं भासयतीति भावः। ननु 'घटं न जानामी'ति साक्षि-धिया घटादेरप्यज्ञानविषयत्वावगाहनात् चाक्षुषादिवृत्तिविषयत्वेनै-व घटादिकं गृह्यते साक्षिणा, न तदवच्छेदकत्वेन तत्राह—जडे चे-त्यादि। अज्ञानेति। अज्ञानविषयत्वेत्यर्थः। घटाद्यवच्छेदेन

नारायणी।

वा प्रत्यक्षानुपपत्तिः तयोः सिद्धान्तेऽद्रव्यत्वात्। ब्रह्मणः स्वप्रकाश-सच्चिदानन्दस्य स्वतन्त्रपदार्थत्वात्कालस्याविद्यात्मकत्वादिति संक्षेपः*। (२)ननु 'घटं पश्यामी'त्यादिना घटादिज्ञानानां घटाद्यंशेऽपि प्रामाण्यग्रहात् कुतः सन्मात्रांश एव प्रामाण्यं तत्राह—ज्ञानेति। ज्ञानाज्ञानयोरेकाश्रयविषयक-त्वनियमात् चिन्मात्राश्रिताज्ञाननाशायोत्पन्ना प्रमाणाजन्या वृत्तिः चितमेव विषयीकरोति न घटादिकं मानाभावात्। 'घटं पश्यामी'त्यादिधीस्तु चा-क्षुषादिवृत्तिविषयतावच्छेदकत्वेनव घटादिकं भासयति न मुख्यविषय-त्वेन अतो न तत्र प्रामाण्यमिति भावः। नन्वज्ञातत्वं विना यदि प्रामाण्यं दुर्घटं तदा तादृशप्रतीतिप्रामाण्यान्यथानुपपत्त्याऽज्ञातत्वमप्यस्तु घटादौ प्रतीयतेऽपि 'घटं न जानामी' त्यादिना तत्राह—जडेति। अज्ञान-तत्कार्यादावस्वप्रकाशे इत्यर्थः। प्रमाणेति। 'आत्मा वारे द्रष्टव्य' इत्यादिना ऽऽत्मनो दर्शनार्हत्वोक्त्याऽज्ञातत्वेन प्रमेयत्वलाभवदनात्मनोऽज्ञातत्वसूचक-प्रमाणस्य जडत्वादेवास्वप्रकाशे स्वप्रकाशत्वकृतभानावरणरूपप्रयोजन-स्य चाभावेन। अज्ञानेति। विषयतयाऽज्ञानास्वीकारात् घटाद्यवच्छेदेन चित

(१) + ... + चिन्हितः पाठो नास्ति कखपुस्तकयोः।

(२) अत्र रूपाद्यभावेपि ब्रह्मणो नीरूपकालादेरिव सर्वेन्द्रिययोग्यस्य न चक्षुर्वैय-त्वानुपपत्तिः तत्तदिन्द्रिययोग्यप्रत्यक्षं प्रत्येव तद्गुणानां कारणत्वस्य व्यवस्थापनात्। 'घटं पश्यामी'त्यादिनेत्यादिः पाठः खपुस्तके।

न्यायरत्नावली ।

चितस्स्फुरणवारणाय घटाद्यवच्छेदेन चित्यज्ञानाविषयताऽवश्यङ्कल्प्या, अतस्तदवच्छेदकत्वेनैव घटादीनामस्फुरणोपपत्तौ तेष्वज्ञानविषयतान्तरकल्पने गौरवम् । न च घटाद्युपहितचैतन्यानि केवलचितो भिन्नानि न वा? आद्ये तेष्वज्ञानविषयत्वानि घटादिषु तदवच्छेदकत्वानि कल्पनीयानीति तदपेक्षया घटादिष्वज्ञानविषयत्वानां कल्पनैव लघीयसी, द्वितीये घटाद्यवच्छेदेन स्फुरणं घटादिविशेषितचिद्रूपे संशयाद्यभावः, (१)तद्वारणं च तस्मिन्नज्ञानविषयत्वास्वीकारेऽपि घटादावज्ञानविषयत्वानां स्वीकारेण निर्वहतीति वाच्यम् । आद्ये घटादाववच्छेदकत्वानामकल्पनादज्ञाताचित्तादात्म्यादेव तत्राज्ञातत्वव्यवहारात् । न च विनिगमकाभावः घटादावज्ञातत्वस्वीकारेऽपि अज्ञातघटादितादात्म्येन तदुपहिताचित्यज्ञातत्वव्यवहारसम्भवादिति वाच्यम् । चित्यज्ञातत्वस्वीकारे हि अज्ञातत्वशून्यचिद्रूपमपरोक्षत्वं वाच्यम् , घटादौ तत्स्वीकारे तु नापरोक्षत्वं तथा, घटाद्याकारवृत्त्यभावकालेऽपि घटादेरपरोक्षत्वापत्तेः; किन्तु अज्ञातत्वशून्योपहितत्वविशिष्टचिद्रूपम् , तथा च गौरवम् । न चाज्ञातत्वशून्यत्वमेव तदिति वाच्यम् । अलीकस्यापि तदापत्तेः ; न चाभानापादकाज्ञातत्वम् अलीके सदास्त्येवेति वाच्यम् । साक्ष्यसम्बन्धादेव तत्राभानोपपत्तौ अज्ञातत्वास्वीकारात् । न च अज्ञातत्वशून्यं यत् घटादि तत्तत्स्वरूपमेव तदिति वाच्यम् । 'घटोऽपरोक्षः पटोऽपरोक्ष' इति प्रतीतेः एकापरोक्षतात्वव्यक्तिविषयत्वात् । अज्ञातत्वशून्यचित्त्वस्यैव तादृशव्यक्तित्वात , घटाद्युपादानकप्रवृत्त्यादौ घटाद्यपरोक्षतानां तेन रूपेणैककारणत्वस्य मन्मते सम्भवाच्च । एवं पूर्वोक्तयुक्तेः द्वितीयपक्षेऽपि न घटादावज्ञानविषयत्वम् । नन्वज्ञातत्वशून्यचैतन्यं द्वितीयपक्षे ब्रह्मज्ञानोत्तरमपि अप्रसिद्धम् , त-

(१) तदावरणं च तस्मिन्नज्ञानविषयतापि घटादावित्यादिः गपुस्तके ।

न्यायरत्नावली ।

दापि घटं न जानामीति प्रत्ययेन चितः अज्ञातत्वशून्यत्वाभावात्, तथा च तदापि घटाद्याकारवृत्तिकाले घटं साक्षात्करोमीति व्यवहारो न स्यादिति चेन्न । द्वितीयपक्षे 'घटं साक्षात्करोमी'त्यादौ 'घटाद्यवच्छिन्नेनाज्ञानाविषयत्वेन शून्यं चैतन्यं साक्षात्करोमी'ति व्यवह्रियते । तथा च घटाद्याकारवृत्तिकाले घटाद्यवच्छिन्नस्याज्ञानाविषयत्वस्यापसरणात् 'घटं साक्षात्करोमी'ति व्यवहारः । एवं च आद्यपक्षे अज्ञातत्वशून्यचिति तादात्म्यस्य द्वितीयार्थस्यान्वयः, द्वितीयपक्षे तु अज्ञातत्वे अनवच्छिन्नत्वस्य द्वितीयार्थस्येति विवेकः । आख्यातस्य तदनुकूलव्यापारोऽर्थः । ननु द्वितीयपक्षो नोपपद्यते, अज्ञातत्वसामान्याभाववाचितः साक्षात्करोत्यर्थत्वेन घटाद्यवच्छिन्नाज्ञातत्वाभाववच्चितस्साक्षात्करोतिना बोधासम्भवात् । एवम् 'इदं सुखं साक्षात्करोमी'ति धीर्न स्यात्, एतत्सुखावच्छिन्नस्याज्ञानविषयत्वस्याप्रसिद्ध्या तदभाववचितोऽप्यप्रसिद्धेः । न च घटाद्यवच्छिन्नाज्ञानविषयत्वीयविशेषणतासम्बन्धेनाज्ञानविषयत्वस्याभावो बुध्यते, यदर्थबोधकपदोत्तरं द्वितीयासमभिव्याहृतः साक्षात्करोतिः तदवच्छिन्नविषयत्वीयविशेषणतासम्बन्धभानस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वादिति वाच्यम् । पदार्थयोस्संसर्गविधया भासमान एव समभिव्याहारस्य नियामकत्वेनापदार्थबोधे तस्यानियामकत्वादिति चेत् । अत्रोच्यते । द्वितीयपक्षे अज्ञातत्वे अभावे चिति च साक्षात्करोतेश्शक्तित्रयस्वीकारात्(१), अज्ञातत्वे च घटाद्यवच्छिन्नत्वस्यान्वयेन घटाद्यवच्छिन्नाज्ञातत्वस्यैवाभावेऽन्वयेन तादृशाभावस्य च चित्यन्वयेन विशिष्टचिद्बोधसम्भवः । चितस्तु तद्व्यक्तित्वेनैव शक्यता (२)+ शाब्दधीविशेष्यता च + तेन शाब्दधीविशेष्यतायाः

(१)—स्वीकारेणाज्ञातत्वे घटाद्यवच्छिन्नाज्ञातत्वस्यैवाभावेऽन्वयेन तादृशाभावस्येति पाठभेदो घपुस्तके युक्तश्च । (२) +...+ एतच्चिन्हान्तर्गतपाठो घपुस्तके नास्ति ।

न्यायरत्नावली।

किञ्चिदवच्छिन्नत्वनियमेऽपि न दोषः। अथवा चिन्निष्ठविशेष्यतासम्बन्धेनाभाववदेव द्वितीयं शक्यम्। तृतीयं तु नाभ्युपेयते। अभावस्य तु पदार्थैकदेशत्वेऽपि ससम्बन्धिकत्वात् तत्राज्ञातत्वान्वयेऽपि न दोषः। 'एतत्सुखं साक्षात्करोमी'त्यादौ तु नाप्रसिद्धिः। सुखमात्रे नित्यत्वादिभ्रमहेत्वज्ञानाविषयत्वस्य सर्वसुखावच्छिन्नस्य प्रसिद्धत्वात्। 'ब्रह्म साक्षात्करोमि' इत्यादौ तु न ब्रह्मावच्छिन्नत्वस्याज्ञानविषयस्याभानम्, अप्रसिद्धत्वात्। नाप्याधेयत्वस्य द्वितीयार्थतया ब्रह्मवृत्त्यज्ञातत्वशून्यचितो भानम्। ब्रह्मज्ञानोत्तरमपि घटाद्यवच्छिन्नस्य ज्ञातत्वस्य ब्रह्मचिदसत्त्वेन तादृशचितोऽप्रसिद्धेः। किन्तु ब्रह्मवृत्त्यज्ञातत्वानवच्छिन्नविषयत्वीयविशेषणतासम्बन्धेन योऽभावस्तद्भानम्। आधेयत्वं तु द्वितीयया लभ्यते। ब्रह्मपदसमभिव्याहारस्य च तत्सम्बन्धभाननियामकत्वात्। 'घटं साक्षात्करोमि' इत्यादौ तु (१)घटत्वाद्यवच्छिन्नाज्ञातत्वस्यैव नोक्तसम्बन्धेनाभावभानम्। दृश्यवाचकपदसमभिव्याहृतद्वितीयाया एवावच्छिन्नार्थकतया न 'ब्रह्म साक्षात्करोमी'त्यादौ द्वितीययावच्छिन्नत्वबोधः। वस्तुतस्तु साक्षात्करोतेस्स(२)कर्तृकत्वात् प्रयोजकेऽपि शक्तिः। तथा च 'घटं साक्षात्करोमी'त्यादौ घटत्वाद्यवच्छिन्नोऽज्ञातत्वस्य योऽभावः, तत्प्रयोजकविशिष्टचिद्बोधः(३)। अवच्छिन्नत्वं च अवच्छेदकतासम्बन्धेनाधेयत्वम्, 'ग्रामं गच्छती'त्यादौ द्वितीययाऽऽधेयत्वबोधात्। अथवाऽज्ञातत्वाभावप्रयोजकत्वविशिष्टचित्येकैव शक्तिः। न चैवं ब्रह्मसाक्षात्कारपूर्वमपि 'ब्रह्म साक्षात्करोमी' ति धीस्स्यात्, घटाद्याकारवृत्तिकाले घटाद्यवच्छेदेन ब्रह्मवृत्तेरज्ञातत्वाभावस्यानुभ-

(१) द्वितीययाऽवच्छिन्नज्ञानानुकूलसम्बन्धेनाऽभावज्ञानम्-इति पाठान्तरं घपुस्तके।

(१) सकर्मकत्वात् इति पाठभेदो घपुस्तके।

(३) 'ब्रह्म साक्षात्करोमी'त्यादौ तु ब्रह्मवृत्तिरज्ञातत्वस्योक्तसम्बन्धेन योऽभावस्तत्प्रयोजकविशिष्टचिद्बोधः। इति पाठाधिक्यं घपुस्तके।

न्यायरत्नावली ।

वात् । एकशक्तिपक्षे हि नानवच्छिन्नविषयत्वीयविशेषणतासम्बन्धेनाज्ञानविषयत्वस्याभावो बुध्यते, येन तस्य व्याप्यवृत्तितया घटाद्यवच्छिन्नता न स्यादिति वाच्यम् । अनवच्छिन्नस्याज्ञानाविषयस्य ब्रह्मणि व्याप्यवृत्तितया तत्सत्त्वे तादृशाभावस्यासम्भवात् । न चैवं 'घटं साक्षात्करोमी'त्यादौ अज्ञातत्वाभावस्य ब्रह्मज्ञानपूर्वं घटाद्यवच्छिन्नतया धीर्न स्यादिति वाच्यम् । तादृशबुद्धेरेतत्कल्पेऽनुपपन्नत्वेऽपि 'घटं साक्षात्करोमी'त्यादौ अज्ञानाविषयतावच्छेदकत्वाभावविशिष्टचिति शक्त्यन्तरस्वीकारेण तद्धीसम्भवात् 'ब्रह्म साक्षात्करोमी'त्यादावेव विषयतामात्रसम्बन्धेनाभावघटितशक्यार्थसम्भवात् । न च ब्रह्मज्ञानपूर्वं घटाद्याकारवृत्तिकाले घटाद्यवच्छेदेनाज्ञानविषयताभावस्य ब्रह्मणि सत्त्वात् 'ब्रह्म साक्षात्करोमी'ति धीस्स्यादिति वाच्यम् । अनवच्छिन्नस्याज्ञातत्वस्य ब्रह्मणि सत्त्वे घटाद्यवच्छेदेनाज्ञातत्वसामान्याभावो नास्तीत्यस्य पूर्वमेवावेदितत्वात् । अवच्छिन्नचितां केवलचिदन्यत्वपक्षे त्वज्ञातताभावश्चिद्वृत्तिर्निवेश्यः, चिति तादात्म्येन ब्रह्मघटादेरन्वयः, घटाद्यवच्छिन्नचिति घटादेरिव वृत्तिविषयत्वोपहितब्रह्मचिति ब्रह्मणस्तादात्म्यसत्त्वात् । अत एव फलवत्त्वेन बुध्यमाना चिदेव ज्ञानकर्मतत्तादात्म्यात् घटादिकं तथा व्यवह्रियते, जानात्यर्थे तु असत्त्वापादकमेवाज्ञानं निवेश्यम् , अधिकं त्वग्रे वक्ष्यते।तस्मात् घटावच्छिन्नचितां केवलाचिदनन्यत्वेऽपि न काप्यनुपपत्तिः । अज्ञानस्य पूर्णानन्दनिष्ठविषयतान्या या विषयता तदवच्छेदकत्वानां घटादौ स्वीकारे तेषामेव घटाद्याकारवृत्तिनाश्यत्वम् । तथा च वृत्तिकाले घटादीनामज्ञानाविषयतानवच्छेदकत्वात् उक्तरीत्या 'घटं साक्षात्करोमी'ति धीसम्भवः । यदि तु सम्बन्धिनाशे सम्बन्धस्य सत्त्वासम्भवात् ब्रह्मज्ञानोत्तरं ब्रह्मनिष्ठस्याज्ञानस्य तद्विषयत्वस्य च नाशे तदवच्छेदकत्वानामपि नाशात् घटादौ वृत्त्यभा-

न्याज्ञानादेव तत्राप्यज्ञानव्यवहारोपपत्तेः+। सर्वप्रमाणा-

न्यायरत्नावली।

वकाले साक्षात्करोमीत्यादिव्यवहारापत्तेः, उक्तावच्छेदकत्वानामावरणरूपत्वासम्भवादिति चिन्त्यते, तदाप्यज्ञानस्य पूर्णानन्दनिष्ठानवच्छिन्नविषयत्वमेव ब्रह्मज्ञाननाश्यम्। अज्ञानं तु चरमेणैव ब्रह्मज्ञानेन नाश्यम्, न तु प्रारब्धभोगकालीनेनेति स्वीक्रियते। अथवा अज्ञाननानात्वपक्षमवलम्ब्याज्ञानानामेव वृत्तिनाश्यता स्वीक्रियते। तस्मादेकाज्ञानपक्षे घटाद्यवच्छिन्नाचितां केवलचिदन्यत्वे तासु पूर्णानन्दे च अनवच्छिन्नान्येवाज्ञानविषयत्वानि। तासां तदनन्यत्वे तु एकस्यैवाज्ञानस्य एकविषयता पूर्णानन्दनिष्ठा स्वीक्रियते, अन्यासां तु विषयतानां घटादाववच्छेदकत्वानि। नानाज्ञानपक्षे पल्लवाज्ञानानां विषयतावच्छेदकत्वानि घटादिषु स्वीक्रियन्ते, न तु विषयत्वम्, प्रमाणाभावात्। चिन्निष्ठेनैवाज्ञानविषयत्वेन तेषु न भातीति व्यवहारसम्भवेन प्रयोजनाभावाच्चेति भावः। नन्वास्तां चित एवाज्ञातत्वम्, प्रमेयत्वं तु घटादेरेव, घटादिविषयिकयैव प्रमया घटाद्यवच्छिन्नचिद्विषयकाज्ञाननाशस्य सम्भवात् तत्राह—सर्वेति। स्मृतिप्रामाण्यवारणायाज्ञातविषयकत्वघटितं प्रामाण्यमिति भावः। ननु कथमज्ञातज्ञापकत्वेन स्मृतेर्वारणम्, तज्जनकसंस्कारस्यानुद्बोधकत्वे स्मृतिपूर्वं तद्विषयेऽपि अज्ञातत्वसम्भवात्, अज्ञातत्वाभावे तत्र भ्रमस्यानुभवसिद्धस्यानुपपत्तेरिति चेन्न। स्वकरणस्य यो व्यापारः तदुत्तरत्वव्यवहितपूर्वक्षणे वा स्वकरणाधिकरणक्षणे यदज्ञातं

नारायणी।

स्फुरणवारणाय घटाद्यवच्छेदेन चिति स्वप्रकाशेऽज्ञानविषयताऽवश्यं कल्प्या ततस्तदवच्छेदकत्वेनैव घटादीनां अभानोपपत्तौ तेष्वज्ञानान्तरकल्पने गौरवादिति भावः। ननु मास्त्वज्ञातत्वं तथापि प्रामाण्ये किमागतं तद्वद्विशेष्यकत्वविशिष्टतत्प्रकारकत्वरूपप्रामाण्यस्य घटादावव्याहतेस्तत्राह—सर्वेति। सर्वप्रतीतीनामज्ञानविषयतावद्विषयकत्वेनैव प्रमात्वादित्यर्थः।

न्यायरत्नावली।

व्यवहारकाले चाबाधितं तद्विषयकाज्ञानत्वस्यैव प्रमात्वरूपत्वात्, स्मृतौ तदभावात्, समानविषयकनिश्चयरूपस्य तत्करणस्याधिकरणक्षणे तद्व्यापाररूपसंस्कारस्य उत्पत्त्यव्यवहितपूर्वक्षणे वा तद्विषयस्याज्ञानत्वासम्भवात्। अथ ज्ञानान्तरेण योऽर्थो यस्मिन् क्षणे गृहीतः, तदव्यवहितोत्तरक्षणोत्पन्नस्य तदर्थज्ञानस्य तदर्थव्यवस्थापकत्वं न स्यात्। तदर्थविपरीतबुद्ध्यनुत्पादप्रयोजकत्वरूपस्य तदर्थव्यवस्थापकत्वस्य तदर्थविपरीतबुद्ध्युत्पादकाज्ञाननिवर्तकज्ञानेष्वेव सत्त्वात्, ज्ञानान्तरगृहीते चाज्ञानाभावेन तद्विषयकोक्तज्ञानस्याज्ञाननिवर्तकत्वात्। तथा चोक्तज्ञानस्य प्रमात्ववारणाय स्वोत्पत्त्यव्यवहितपूर्वक्षणे यदज्ञातं तद्घटितमेव प्रमात्वम्, न तु स्वकरणादिघटितमिति चेन्न। स्मृतौ प्रमात्वस्यावश्यवारणीयत्वेन स्वकरणादिघटितत्वस्यापि आवश्यकत्वात्। स्मृतिर्हि सर्वाऽप्यविद्यावृत्तित्वेन भ्रम इति वेदान्तसिद्धान्तः। ननु कथमेतदुपपद्यते?, उच्यते। 'गृहीतग्रहणस्वभावा स्मृतिरि'त्यध्यासलक्षणे वाचस्पत्युक्तेः स्मृतिमात्रस्य ज्ञातत्वविशिष्टविषयकत्वात् ज्ञातत्वस्य प्रकृते पूर्वगृहीतप्रमाविषयत्वभ्रमविषयत्वान्यतररूपस्य स्वविषयस्मृत्या ग्रहणात्, भ्रमविषयत्वेन मिथ्यात्वपर्यवसितेन स्वविषयग्राहिण्याः स्मृतेर्भ्रमत्वावश्यकत्वात्। न च प्रमाविषयत्वेन स्वविषयग्राहिण्याः स्मृतेर्भ्रमत्वे मानाभावेन न स्मृतिसामान्यस्य भ्रमत्वं युक्तम्, युक्तत्वेऽनुमित्यादावपि क्वचित् भ्रमविषयत्वेन स्वविषयग्राहकत्वसम्भवेनानुमित्यादिसामान्यस्य भ्रमत्वं स्यादिति वाच्यम्। अनुमित्यादिसामान्यस्य भ्रमत्वे लाघवात् परामर्शादेरेव तत्र दोषविधया हेतुत्वापत्त्या दोषजन्यत्वनिश्चयेन न तत्प्रामाण्यं साक्षिणा लिङ्गादिना वा गृह्यते, न हि दोषजन्यत्वेन निश्चिते भ्रमादौ तद्ग्रह इति वक्ष्यते। तथा च प्रवृत्त्यादेस्ततो जायमानस्यापलापापत्तिः। स्मृ-

न्यायरत्नावली।

तिसामान्यस्य भ्रमत्वे तु संस्कारत्वेन स्मृतिरूपभ्रमहेतुत्वसिद्ध्या संस्काररूपदोषजन्यत्वस्य निश्चयेऽपि प्रमितविषयकत्वेन लिङ्गेन प्रमात्वानुमानसम्भवः। न च दोषजन्यस्य प्रमात्वतद्विषयत्वे च प्रमितत्वं न सम्भवतीति वाच्यम्। अविद्यावृत्तित्वेन दोषजन्यत्वेऽपि तद्विषये मिथ्यात्वानिश्चयेन वक्ष्यमाणस्य प्रवृत्त्युपयुक्तत्वस्य दोषजन्याविद्यावृत्तौ बाधानवतारदशायां सम्भवात्। न च प्रवृत्त्युपधायकानुमित्यादौ प्रमितविषयकत्वं नियमेन गृह्यते, स्मृतौ तु साक्षिणैव तद्गृह्यते। स्मृतिजनकज्ञानं हि पूर्वं प्रमात्वेन साक्षिणा भ्रमत्वेन लिङ्गादिना च गृह्यते। तथा च तद्विषयत्वस्य प्रमितत्वेन मिथ्यात्वेन वा निश्चितत्वात् स्मृतेरपि तादृशविशिष्टविषयकत्वात् तद्ग्राहकेण तथैव तद्ग्रहणम्। ज्ञानस्यावश्यवेद्यत्वमते स्मृतेर्गृहीतग्रहणं सुतरामुपपद्यते। तस्मात् स्मृतिसामान्यस्य गृहीतग्रहणस्वभावत्वेन उक्तरीत्या भ्रमत्वजातिविशिष्टरूपाविद्यावृत्तित्वात् मनोवृत्तिमात्रनिष्ठस्य प्रमात्वस्य न तत्र सम्भवः। ननूक्तरूपं प्रमात्वं न युक्तम् दोषाभावे सति ज्ञानग्राहकमात्रग्राह्यत्वरूपस्य ज्ञप्तौ स्वतस्त्वस्य तत्राभावात्। न हि उक्तक्षणस्याबाधितत्वस्य च ज्ञानग्राहकसाक्षिणा प्रमाणनिरपेक्षेण ग्रहणसम्भव इति चेन्न। इदं हि प्रमात्वं न स्वतो ग्राह्यम्, किन्तु सर्वप्रमानुगतत्वात् अप्रमाव्यावृत्तत्वाच्च प्रमाणलक्षणम्। यत्तु प्रमात्वं प्रवृत्तिप्रयोजकं बाधानवतारकालीनभ्रमे स्मृतौ चानुवर्तते तत् स्वतोग्राह्यम्। आवश्यकं च तस्य स्वतोग्राह्यत्वम्, तद्वत्तया गृहीतस्य स्वोत्पत्तिद्वितीयक्षण एव प्रवृत्त्युपधायकत्वात्। तच्च मिथ्यात्वरूपेण यदज्ञातं तद्विषयकत्वम्, भ्रमस्यापि बाधाभावकाले मिथ्याविषयकत्वेनानिश्चयात्, मिथ्यात्वविशिष्टविषयकाज्ञानस्य साक्षिणा ग्रहणसम्भवाच्च भ्रमात् प्रवृत्त्युपपत्तिः। न च ज्ञानाज्ञानादेः स्वविशिष्टस्यावरणशून्यस्य साक्षिणा मानानपेक्षेण ग्रहणस-

न्यायरत्नावली ।

म्भवेऽपि मिथ्यात्वविशिष्टस्य कथं तद्ग्राह्यतेति वाच्यम् । 'ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा सर्वं साक्षिभास्य'मिति विवरणकारोक्तेः स्वगृह्यमाणज्ञानाज्ञानयोर्विषये ग्राहकत्वस्य साक्षिणि सिद्धान्ते स्वीकारात् । न च घटादौ मिथ्यात्वग्रहे मिथ्यात्वेनाज्ञातत्वस्य गृहीतुमशक्यतया घटादिज्ञानात् प्रवृत्त्यनुपपत्तिरिति वाच्यम् । विशेषणतावच्छेदकप्रकारकनिश्चयादेर्विशिष्टवैशिष्ट्यविषयताशालिजन्यधीहेतुत्वस्वीकारेऽपि साक्षिणस्तादृशस्य नित्यत्वेन तत्र तस्याहेतुत्वात् । 'मिथ्यात्वविशिष्टावच्छिन्नविषयताकाऽज्ञानाश्रयावच्छेदकघटविषयकमिदं ज्ञानम्' इत्याकारकज्ञाने घटमिथ्यात्वस्याप्रकारत्वेन 'घटो मिथ्ये'ति ज्ञानस्य तत्रानुपयोगात् । 'इयं न शुक्ति'रिति ज्ञानकालेऽपि 'इमां शुक्तिं न जानामी'त्यस्यैव 'घटो न मिथ्ये'ति ज्ञानकालेऽपि 'घटं मिथ्याभूतं न जानामी'त्यस्य ज्ञानस्यानुभूयमानत्वाच्च । उक्तप्रमात्वस्येच्छादौ निश्चयेऽपि न ततः प्रवृत्त्यादिकम्, प्रमात्वेन निश्चीयमाननिश्चयत्वेनैव प्रवृत्त्यादिहेतुत्वात् । अत एव संशयादपि प्रवृत्तिस्स्यात् । 'अयं स्थाणुर्नवे'ति धीकालेऽपि 'मिथ्यात्वेनेदं न जानामी'त्यनुभवात् संशयस्यापि प्रमात्वेन निश्चयसम्भवादिति परास्तम् । ननु भ्रमस्मृत्योरपि प्रमात्वे प्रमापदमुख्यार्थत्वापत्तिरिति चेन्न । लक्षणात्मकपूर्वोक्तप्रमात्वविशिष्टस्यैव (१)प्रकृष्टज्ञानरूपस्य प्रमापदमुख्यार्थत्वात् सुखादिज्ञानस्य तदभावेऽपि न क्षतिः, प्रमाणाजन्यत्वात् । ज्ञानत्वं त्वसत्त्वापादकत्वरूपजातिविशेषाश्रयाज्ञानविषयत्वाभावप्रयोजकविशिष्टचित्त्वम् । तादृशप्रयोजकत्वं च घटादिज्ञानस्थले घटाद्याकारवृत्तिः, विद्यमानसुखादिज्ञानस्थले तु वृत्त्यस्वीकारपक्षे सुखादिजनकसामग्र्येव । सूक्ष्मा-

(१) प्रकृष्टज्ञानत्वप्रमारूपस्य प्रमेत्यादिपाठान्तरं घपुस्तके ।

न्यायरत्नावली ।

वस्थाभाविताद‍शायां सुखादौ तन्न जानामीत्यनुभवात् तद-ज्ञातं भ्रमविषयत्वादित्यनुमानाच्चाज्ञानसत्त्वात् तद्विषयत्वाभावस्य विद्यमानतादशायां तत्र सत्त्वात् तत्प्रयोजकेन चन्दनादिसंयोगेन विशिष्टायाश्चितस्तज्ज्ञानत्वसम्भवः । वस्तुतस्तु घटादिज्ञानस्थलेऽपि घटाद्याकारकवृत्त्युपधायकस्यैव अज्ञानविषयकत्वाभावप्रयोजकत्वम् , अन्यथोक्तवृत्तेः स्वोत्पत्तिकालीने अज्ञातत्वाभावे प्रयोजकत्वासम्भवात् उक्तवृत्त्युत्पत्तिकाले अज्ञातत्वस्य स्वीकारे ज्ञातत्वेन सह तस्य विरोधापत्तेः उक्तवृत्त्युत्पत्तिकाले उक्तज्ञानताद्विषयत्वाभावसत्त्वेऽपि उक्ताज्ञानकार्यसत्त्वं स्वीक्रियते । द्वितीयक्षण एव तदुच्छेदात् । ब्रह्माकारवृत्तिस्थले तथा दर्शनात् । प्रयोजकत्वं च अखण्डचिद्धर्मः । कार्योत्पत्त्यादिनिष्ठप्रयोज्यत्वादिवत् क्षेमसाधारणजनकत्वमेव वा । उक्तप्रयोजकवैशिष्ट्यं च उक्तप्रयोजकजन्यप्रतिबिम्बितत्वं ग्राह्यम् , तेन वृत्तिसुखादिकाले तदुपधायकरूपप्रयोजकस्यासत्त्वेऽपि न क्षतिः । तादृशप्रयोजकजन्ये वृत्तिज्ञाने सुखादौ वा प्रतिबिम्बितत्वस्य तत्काले चिति सत्त्वात् । अविद्यादिज्ञानस्थले तु अविद्यादिकमेव तादृशप्रयोजकम् । तत्सत्त्वेऽग्रिमक्षणे अविद्यादिनिष्ठस्योक्ताभावस्य तदभावे तत्क्षणे तादृशाभावाभावस्य च सत्त्वात् । तज्जन्यत्वमपि क्षेमसाधारणम् , चित्प्रतिबिम्बो हि नाविद्यादावस्तीति तत्प्रतिबिम्बत्वं चितो बोध्यम् । तादृशप्रयोजकजन्योपहितचिदेव जानात्यर्थः । प्रयोजकत्वजन्यत्वयोः तदवच्छेदकभेदात् भिन्नत्वेऽपि जानातेर्नानार्थकत्वात् घटप्रित्यादिपदप्रयोगस्य वृत्तिसामग्र्यादिनिष्ठप्रयोजकत्वादिबोधे नियामकत्वाच्च न दोषः । वस्तुतस्तु तादृशाभावप्रयोजकविशिष्टचिदेव जानात्यर्थः । प्रयोजकत्वं च समानकालीनत्वे सति कारणत्वम् । तेन वृत्त्यभावकाले तादृशाभावस्वरूपयोग्यचैतन्यमादाय

न्यायरत्नावली।

घटादौ न ज्ञातत्वव्यवहारः। कारणत्वमधिष्ठानविधया जगदुपादानस्य चितोऽविद्याया वा ग्राह्यम्। तद्विशिष्टत्वं तत्तादात्म्यमेव। तच्च मनउपहितचित्यस्तीति तद्रूपेण जीवो ज्ञाता। न च पुरुषान्तरीयज्ञानमादायातिप्रसङ्गः। स्वनिरूपिताज्ञानस्य निवेशात्। स्वं (१)विशिष्टान्तबोध्यं मनोवच्छिन्नचैतन्यम्। एवं च उक्तज्ञानवाचकजानातेः सकर्मकत्वमुपपद्यते। फलावच्छिन्नव्यापारबोधकस्य स्वबोध्यव्यापारव्यधिकरणफलबोधकस्य वा सकर्मकत्वादुक्ताभावरूपफलप्रयोजकविशिष्टचिद्वाचकस्य तदुपपत्तेः। यत्तु जानातेस्सकर्मकत्वं न युक्तम्, 'जानातेश्च सकर्मकत्वं फलापेक्षया न तु कर्मकारकापेक्षये'ति विवरणकारोक्तेरिति, तन्न। तदुक्तेरस्मदनुकूलत्वात्। तथा हि—भाविभूतस्य विषयस्य स्वरूपेण ज्ञानक्रियानिमित्तत्वरूपस्य कारकत्वस्याभावेपि ज्ञानक्रियाजनकसामग्र्युपहितसूक्ष्मावस्थारूपेण ज्ञानाक्रियानिमित्तत्वादसत्त्वापादकाज्ञानाविषयत्वाभावरूपफलवत्त्वाच्च कर्मत्वमित्यभिप्रायकविवरणोक्तिरस्मदर्थानुकूला। न च फलापेक्षयेत्यस्य वृत्तिगतं साक्षिचित्प्रतिबिम्बरूपफलमपेक्ष्येत्यर्थ इति वाच्यम्। तथासति वृत्तिं जानामीत्येव स्यात् न तु घटं जानामीति। अथ प्रतिबिम्बोपहितरूपेण वृत्तेरपि फलत्वाद्विषयतासम्बन्धेन तद्वतो घटादेः कर्मतासम्भव इति चेन्न। तथासति प्रत्यक्षधीस्थलेऽपि उक्तवृत्तेरेव फलत्वसम्भवेन आवरणभङ्गस्य तत्रैव फलत्वं न तु परोक्षधीस्थल इत्यत्र विनिगमकाभावात्। तस्मात् वृत्तेश्चिदुपरागार्थत्वपक्षे प्रतिबिम्बमेव फलम्। आवरणभङ्गार्थत्वपक्षे त्वज्ञानाविषयत्वमिति परोक्षापरोक्षसाधारणं वाच्यम्। तत्राद्यपक्षे घटादिज्ञानं घटाद्याकारवृत्तिप्रतिबिम्बिता चित्, सुखादिज्ञानं तु सुखादिप्रतिबिम्बिता चिदेव जानात्यर्थः।

(१) स्वं विशिष्टान्तं मनोवच्छिन्नं चैतन्यं बोध्यमिति घपुस्तके युक्तश्चेदम्।

न्यायरत्नावली ।

प्रतिबिम्बितत्वं (१)प्रतिबिम्बप्रयोजकप्रयोज्यप्रतिबिम्बविशिष्टत्वम् । तेन फलविशिष्टवाचकत्वेन जानातेस्सकर्मकत्वम् । तादृशप्रयोजकं च घटादिज्ञानस्थले वृत्तिसामग्री । सुखादिज्ञानस्थले तु सुखादिसामग्री । तादृशप्रयोज्यमपि वृत्तिसुखादिकम् । अविद्यादिज्ञानस्थले अविद्यादिनिष्ठप्रतिबिम्बस्यानादित्वेऽपि क्षेमसाधारणं तत्प्रयोजकत्वमविद्यादावस्त्येव । (२)*तादृशप्रतिबिम्बस्य स्वबिम्बत्वसम्बन्धेन स्वाश्रयोपहितत्वसम्बन्धेन वा वैशिष्ट्यं निवेश्यम्* वस्तुतस्तु(३) तत्प्रयोज्यमपि प्रतिबिम्बविशिष्टाविद्यात्मकं मनोवच्छिन्नचैतन्यं जानात्यर्थः । मनोवच्छिन्नचितो घटाद्याकारवृत्तिसुखाविद्यादौ प्रतिबिम्बसम्भवात्तदादाय यथाक्रमं घटादिज्ञानं निर्वाह्यम्, चैत्रीयघटाद्याकारवृत्तिनिष्ठप्रतिबिम्बप्रयोजकशुद्धचितमादाय मैत्रीयज्ञानस्य व्यवहारापत्तेः । उक्तवृत्तौ च चैत्रीयमनोवच्छिन्नचित एव प्रतिबिम्बोदयात् तस्याश्च चैत्रजीव एव सत्त्वान्नोक्तदोषः । न च चैत्रमनोवच्छिन्नचितः स्वकर्तृकालोकसंयोगाधीनमैत्रीयघटादिवृत्तिजननद्वारा तद्गतप्रतिबिम्बप्रयोजकत्वात् तादृशप्रतिबिम्बमादाय चैत्रज्ञानव्यवहारापत्तिः । विविधविधया प्रयोजकत्वस्योक्तत्वात् । 'सुखं जानाति घटं जानाती'त्यादौ स्वाश्रितत्वं स्वाकारवृत्तिनिष्ठत्वादिकं चेत्यन्यतमसम्बन्धेन जानात्यर्थैकदेशे प्रतिबिम्बरूपे सुखघटादेरन्वयः 'सुखत्वं जानामी'त्यादौ वृत्तेः प्रतिबिम्बस्यास्वीकारेऽपि स्वाश्रयसुखादिनिष्ठत्वादिसम्बन्धेन सुखत्वादेरन्वयः । घटं न जानामीत्यादौ च तादृशज्ञानाद्यभावबोधः । घटाद्यवच्छि-

(१) प्रतिबिम्बप्रयोज्यविशिष्टत्वमिति घपुस्तके ।

(२) तत्प्रयोज्यमपि प्रतिबिम्बविशिष्टाऽविद्यादिकम् तद्विशिष्टत्वं मनोवच्छिन्नचिति बोध्यम् इति पाठभेदो घपुस्तके ।

(३) वस्तुतस्तु प्रतिबिम्बप्रयोजकं मनोऽवच्छिन्नचैतन्यं जानात्यर्थ इति पाठान्तरं घपुस्तके ।

नां चाज्ञातज्ञापकत्वेनैव प्रामाण्यात् । अन्यथा स्मृतेरपि

न्यायरत्नावली ।

न्नाचिति भावरूपाज्ञानस्वीकारेण तद्बोधासम्भवात् मूलाज्ञानस्यैव परिणामः शुक्तिरूप्यादीति ब्रह्मज्ञानं विना न तस्य बाधः, किन्तु निवृत्तिमात्रम् । यदि तु 'घटं न जानामी'त्यादौ भावरूपाज्ञानं भातीत्याग्रहस्तदा वृत्तिविषयत्वाभावसमानाधिकरणमेव विषयत्वं तत्र द्वितीयार्थः । तथा च घटादिनिष्ठतादृशविषयताकस्य मूलाज्ञानस्यैव तत्र भानात् घटाद्याकारवृत्तिकाले न 'घटं न जानामी'ति धीः । सुखादौ वृत्तिस्वीकारे तु स्वाकारवृत्तिनिष्ठत्वसम्बन्धेनैव प्रतिबिम्बे सुखादेरन्वयः । साक्षात्कारस्तु विषयविशिष्टं यत्प्रतिबिम्बं तत्प्रयोजकप्रयोज्यविशिष्टचिदेव । (१)स्वावच्छिन्नवृत्तिनिष्ठत्वं स्वनिष्ठत्वं चेत्याद्यन्यतमसम्बन्धेन विषयविशिष्टत्वं बोध्यम् । वस्तुतस्तु वृत्त्युपरक्तघटादावेव प्रतिबिम्बोत्पत्तेः प्रतिकर्मव्यवस्थायां वाच्यत्वात् सुखत्वादावपि तस्यासम्भवाच्च विषयनिष्ठप्रतिबिम्बमेव निवेश्यम् । सैव चित् साक्षात्करोत्यर्थः । न च जानात्यर्थ एव साक्षात्करोत्यर्थोऽस्तु (२)किमुक्तान्यतमसम्बन्धेन, घटादेः प्रतिबिम्बे अन्वयात् परोक्षधीस्थले 'घटं साक्षात्करोमी'ति न व्यवहार इति वाच्यम् । 'जानामि साक्षात्करोमि' इत्येतयोर्भिन्नार्थत्वानुभवात् । 'घटं साक्षात्करोमी'त्यादौ तदेकदेशे विषये तादात्म्येन घटादेरन्वयः।

नारायणी ।

एतदनङ्गीकारेऽनिष्टमाह—अन्यथेति । अनधिगन्तृत्वं विनापि प्रामाण्याङ्गीकारे इत्यर्थः । तदापत्तिः-प्रामाण्यापत्तिः । तद्विशेष्यकत्वविशिष्टतत्प्रकारकत्वस्य तव मते स्मृतावपि सत्त्वात् । न चानुभवत्वविशेषणेन तन्मते स्मृतेः प्रमात्ववारणमिति वाच्यम् । याथार्थ्याविशेषणेऽप्यनुभवत्वविशेषणेन तद्वारणस्य निर्बीजत्वात् । गृहीतग्राहित्वरूपापराध एव तद्वारणे बीजमिति चेत् । तर्हि 'तद्धेतोरेवास्तिव'ति न्यायेनागृहीतग्राहित्वमेव प्रमालक्षणमुचितमिति

(१) स्वावच्छिन्नवृत्तिनिष्ठत्वस्वनिष्ठचैतन्याद्यन्यतमसम्बन्धेनेति गपुस्तके ।
(२) किमितिपदं नास्ति खपुस्तके ।

२२

न्यायरत्नावली ।

'घटं न साक्षात्करोमी'त्यादौ तादृशसाक्षात्काराभावबोधः, पूर्ववत् वृत्तेरावरणभङ्गार्थत्वरूपे द्वितीयपक्षे अज्ञानाविषयत्वप्रयोजकविशिष्टचिदेव साक्षात्करोत्यर्थः। तस्मात् यथोक्तज्ञानत्वघटितप्रमात्वं नानुपपन्नम्। भ्रमवारणाय व्यवहारकालाबाधितत्वं विशेषणम्।(१)तत्प्रमात्वानिरूपितमूलाज्ञानकालावच्छिन्नं मिथ्यात्वनिश्चयाविषयत्वम्। घटादौ चोक्तकाले मिथ्यात्वानिश्चयात् तज्ज्ञाने प्रमात्वमक्षतम्। विषयभेदेनेव प्रमातृभेदेनापि प्रमात्वभेदेऽपि न क्षतिः। न च भ्रमविषयस्य प्रातिभासिकत्वेन अज्ञातत्वाभावादेव न भ्रमे अतिव्याप्तिरिति वाच्यम्। तस्य विद्यमानकालेऽज्ञातत्वाऽभावेऽपि भावित्वकाले अज्ञातत्वासम्भवात् शङ्खे कदाप्यनुत्पन्नपीतत्वभ्रमस्य पुंसः 'मम भात्री यः शङ्खे पीतत्वभ्रमस्तद्विषयं पीतत्वं न जानामी'ति प्रत्ययात् एतत् हरिद्रापीतत्वजातीयं स्वर्णपीतत्वजातीयं वेति संशयाच्च। तस्मात् स्वोत्पत्त्यव्यवहितपूर्वक्षणे स्वकरणक्षणे च यदज्ञातमुक्तकालावच्छेदेन अबाधितं च तद्विषयकज्ञानत्वं प्रमात्वमिति सिद्धम्। किञ्च स्मृतौ प्रमात्वमुक्तरीत्या प्रमितविषयकत्वरूपालिङ्गेनैवानुमीयते इत्यनुभवानुरोधेन संस्कारजन्यत्वस्य प्रमात्वनिष्ठसाक्षिग्राह्यताविरोधिदोषताकल्पनात् स्वतःप्रमात्वग्रहणरूपां प्रमासामान्यमर्यादामतिक्रान्तस्य स्मृतिसामान्यस्य प्रमालक्षणसङ्ग्रहो न युक्त इत्यतोऽपि तद्व्यावृत्तं प्रमालक्षणम्। ननूक्तलिङ्गेनैव स्मृतौ प्रमात्वमनुमीयते न तु साक्षिणा गृह्यते इति कथं निर्णीतम्? उच्यते। स्मृत्या नाव्यवहितोत्तरक्षणे प्रवृत्तिनियमः किन्तु द्वितीयक्षणे तत्प्रमात्वेऽनुमिते सत्येव प्रवृत्तिः। तत्समानविषयत्वेनानुमीयमानप्रमा(२)त्वकात् स्मृत्यन्तराद्वा सेति सर्वानुभाविकम्। अत एव या स्मृतिः स्वसमानविषयकभ्रममूलकत्वेन गृह्यते, तस्याः भ्रमत्वेनैव

(१) तच्च तत्प्रमातृनिरूपितेत्यादिः घपुस्तके। (२) प्रमातृकादिति गपुस्तके।

तदापत्तिरिति । एवं वेदान्तेषु सर्वत्रैवंविधविरोधे अयमेव परिहारः । तदाहुर्वार्तिककारपादाः—

न्यायरत्नावली ।

निश्चयात् न ततः प्रवृत्तिः । तथा च संस्कारजन्यत्वरूपदोषसहितत्वेन स्मृतिगतप्रमात्वस्यावृतत्वस्वीकारेणानावृतसाक्षितादात्म्यरूपस्य साक्षिभास्यत्वस्य तत्राभावात् न स्मृत्युत्पत्तिद्वितीयक्षणादौ प्रवृत्तिः । उक्तलिङ्गकानुमितौ तादृशावृतत्वविरोधिन्यां सत्यां तत्क्षणे तादृशसाक्षिभास्यत्वविशिष्टप्रमा(१)त्मकया स्मृत्या स्वोत्पत्तितृतीयक्षणे स्मृत्यन्तरोत्पत्तिद्वितीयक्षणे वा प्रवृत्तिरुत्पद्यते । ननु जीवेश्वरादिबोधकवाक्ये पौरुषनानाविधकल्पनानुवादकत्वमास्ताम् 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना' इत्यादिब्रह्मबोधकवाक्ये भाष्यकारैरेव शारीरकभाष्ये प्राणचक्षुश्श्रोत्रान्नमनोरूपपञ्चकम् , उपनिषद्भाष्ये तु ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रनिषादरूपजातिपञ्चकं पञ्चजनशब्दार्थत्वेनोक्तम् , तत्त्वमस्यादिवाक्येऽपि जहदजहल्लक्षणादिकं मतभेदेनोक्तम् , तत्कथम् ? तत्राह—एवं वेदान्तेष्विति । एवंविधविरोधे—परमतात्पर्यविषयीभूतब्रह्मप्रतिपादनार्थमुच्यमानांशे विरोधे । अस्माभिर्मादृशैराचार्यैः । जीवेशादिव्यवस्थामुक्ता-

नारायणी ।

भावः । प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रकृतमाह-वेदान्तेषु । 'जीवेशावाभासेन करोति' रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव,ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ, अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते'इत्यादिश्रुतिषु सर्वत्र तत्तद्वादाभिप्रायपरासु अनन्तशाखास्थासु,एवंविधविरोधे—परस्परविरोधेनाप्रामाण्यलक्षणादिविरोधे, अयमेव—अबाधिताज्ञातफलवदर्थ एव प्रामाण्यं नान्यत्रेति । एतादृशपरिहारे वार्तिकाचार्यसम्मतिमाह—तदाहुरिति । यया यया—प्रक्रियया आभासप्रतिबिम्बावच्छेददृष्टिसृष्टिवादान्यतमरूपया, पुंसां—जीवानां, प्रत्यगात्मनि-प्रति जड़ादि प्रातिकूल्येनाञ्चति प्रकाशत इति प्रत्यगात्मा जीवेशजगद्व्यावृत्तोऽखण्डैकरसरूपस्तस्मिन् । व्युत्पत्तिः-दृढबुद्धिः,प्रक्रिया—प्रक्रियते व्युत्पाद्यतेऽनयेत्यभेदसाधनसम्पत् जीवेशविभागादिव्यवस्था,

(१) प्रमातृकयेति गपुस्तके ।

यथा यथा भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ।
सा सैव प्रक्रिया ज्ञेया साध्वी सा चानवस्थिता ॥

इति । श्रुतितात्पर्यविषयीभूतार्थविरुद्धं च हेयमेवेति शतश उद्घोषितमस्माभिः । तस्मान्न किञ्चिदेतत् । तदेवं जीवस्योपाधिनाभिभूतत्वात्संसारोपलब्धिः। परमेश्वरस्य तूपाधिवशित्वात् सर्वज्ञत्वादिकमिति सम्यगुपप-

न्यायरत्नावली ।

मुपसंहरति—तदेवमिति । उपाधिनाभिभूतत्वात्—यं प्रत्यज्ञानाद्युपाधिनिमित्तप्रयुक्तं स्वरूपावरणं तत्त्वात् । संसारोपलब्धिः—सत्यत्वेन प्रपञ्चोपलब्धिः । उपाधिवशित्वात्—श्रुत्यादिसिद्धेनोक्ताभिभूतत्वाभावेन विशिष्टत्वात् । सर्वज्ञत्वादिकमित्यादिपदेन मिथ्यात्वेन प्रपञ्चोपलम्भादिग्रहणम् । ननु न प्रतिबिम्बस्य जीवत्वं युक्तम्' सन्निहितस्यैव चैतन्यस्य उपाधौ प्रतिबिम्बितत्वेन सन्निहितरूपबिम्बभेदेन प्रतिबिम्बभेदापत्त्या इहलोकगतजीवात् कर्तुः परलोकगतजीवस्य भोक्तुर्भेदेन कृतहान्यकृताभ्यागमयोरापत्तेः।(१)+ना-

नारायणी ।

साध्वी—तदंशे सोपपत्तिकदृष्टिपुरुषं प्रति प्रामाणिकी, (२)सा च प्रक्रिया अनवस्थिता—अप्रतिष्ठिता । स्वांशे प्रामाण्यरहितेति यावत् । साक्षात्फलवत्त्वाज्ञातत्वादेरभावादिति भावः । नन्वनूद्यत्वेऽपि यदि जीवेशविभागकल्पनाऽवान्तरतात्पर्यमादाय साध्वी तदा 'द्वा सुपर्णे'ति मन्त्रोक्तभेदांशोपि साधुः स्यात्तत्राह-श्रुतीति । श्रुतीनां तात्पर्यस्याद्वैत एव प्रदर्शनात्तद्विरुद्धभेदांशो न साधुरिति भावः । शतशः-अद्वैतसिद्धिवेदान्तकल्पलतिकाऽद्वैतरत्नादौ । तस्मात्-अद्वितीयात्मन्येव सकलप्रमाणसमन्वयसमर्थनात्, एतत्-भेदांशादेः प्रामाणिकत्वाप्रमाणिकत्वकथा, नकिञ्चित्-न किमपि वृथेति यावत् । जीवेशादिव्यवस्थामुपसंहरति—तदेवमिति । अभिभूतत्वात्-अनाद्यज्ञानेनावृतत्वात्।संसारोपलब्धिः-सत्यत्वेन प्रपञ्चोपलम्भः। उपाधिवशित्वात्-वशीकृतमायत्वात्। सर्वज्ञत्वादिकमित्यादिना

(१) +...+ एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठो नास्ति घपुस्तके ।
(२) तर्हि शास्त्रतात्पर्यविषयत्वमागतमेवेत्यत आह सा चानवास्थितेति पाठः खपुस्तके ।

द्यते व्यवस्था। ननु भवत्वविद्यावशाज्जीवेश्वरविभागव्यवस्था। ज्ञानमेयादिप्रतिकर्मव्यवस्था तु कथमि-

न्यायरत्नावली।

नाऽप्यवच्छिन्नस्य तद्युक्तम्। उपाध्यधिकरण+गृहादिप्रवेशभेदेनावच्छिन्नानाम् आकाशादीनामिव इहलोकपरलोकगतमनोवच्छिन्नचितामपि भेदेनोक्तदोषापत्तेरिति चेन्न। 'रूपं रूपं प्रतिरूपः, स एष इह प्रविष्ट' इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मचित एव प्रतिबिम्बभावोक्त्या उपाधिसन्निहितभागस्य बिम्बत्वे मानाभावात्। यथा च उपाधेर्मनआदेस्तत्तद्देशसम्बन्धरूपावस्थाभेदेऽपि स्वरूपैक्यम्, 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृत'मित्यादिश्रुतेः, 'तदापीतेः संसारव्यपदेशादि'ति न्यायाच्च, तथा तदवच्छिन्नचितां तदवस्थाभेदेन भेदेऽपि तदवच्छिन्नचिद्रूपैक्यम्। अत एव एककनकपरिणामानां क्रमोत्पन्नानां कटककुण्डलादीनां कटकादीनां कटकत्वरूपैर्भेदेऽपि तत्कनकरूपेणैक्यम्। किञ्च गृहप्राङ्गणादिभेदेऽपि एकघटावच्छिन्नमाकाशमेकमेव, देशभेदेन तस्य नाशकोत्पादककल्पने गौरवात्। उपाध्युत्पादकनाशकयोरेवोपहितोत्पादकनाशकत्वकल्पनात्। भेदप्रतीतेरुपाध्याश्रयोपाधिभेदप्रयुक्तत्वात्। अन्यथा घटादिव्यक्तिभेदेन घटत्वादेरपि स्वाभाविकभेदापत्तेः। तस्मात् मतिमान्द्यादेवेदृग्दूषणोद्भावकत्वम्। मेयादीति। मेयादिघटितेत्यर्थः। प्रतिकर्मेत्यादि। कदाचिदेव केनचिदेव किञ्चिदेव प्रमीयत इति कालविशे-

नारायणी।

सर्वान्तर्यामित्वपरिग्रहः। सम्यगुपपद्यते साहङ्कारनिरहङ्कारत्वाभ्यामिति भावः। प्रतिकर्मव्यवस्थामुपपादयिष्यन्नाशङ्कते—नन्विति। मानमेयादीत्यादिना मातृमितिफलानां परिग्रहः। (१)*प्रतिकर्म ज्ञानविषयः व्यवस्था* कदाचिदेव कचिदेव केनचिदेव ग्रहणमिति कालदेशसहकारिविशेषादिना विषयविशेषार्थग्राहिता। दृष्टिसृष्टिपक्षे प्रतिकर्मव्यवस्थाया

(१) अत्रायं पाठभेदः खपुस्तके—* प्रतिकर्मव्यवस्थेति। कर्म ज्ञानविषयः। कर्म कर्म प्रति वर्तते इति प्रतिकर्म ज्ञानादिसाधनं तस्य व्यवस्था *कदाचिदेवेत्यादिः समोप्र।

ति चेत्, उच्यते। दृश्यत्वाज्जडत्वाद्विनाशित्वाच्च परिच्छिन्ना(१)प्यविद्या अनिर्वचनीयत्वेन विचारासहा आवरणविक्षेपशक्तिद्वयवती सर्वगतं चिदात्मानमावृणोति अङ्गुलिरिव नयनसन्निहिता सूर्यमण्डलम्। तत्र चक्षुष एवावरणे अङ्गुलेरप्यभानप्रसङ्गात् अधिष्ठानाव-

न्यायरत्नावली।

षादिप्रतिनियतस्य ज्ञानकर्मणो व्यवस्था नियामकोक्तिरित्यर्थः। परिच्छिन्ना-असर्वगता। जीवेशभेदाद्यनादिपदार्थेषु चित्तादात्म्यवत्स्वपि तादात्म्येन असम्बन्धेति यावत्। आवरणेत्यादि। आवरणं नास्ति न भातीति व्यवहारः। विक्षेपश्चाकाशादिकार्यं तयोरनुकूलशक्तिद्वयवतीत्यर्थः। तथा च असर्वगतस्यापि सर्वगतावरणोत्पादकत्वं तदनुकूलशक्तिमत्त्वादिति भावः। नन्वावारकस्यावरणीयापेक्षया परिच्छिन्नत्वेऽङ्गुलिर्न दृष्टान्तः, तदावरणीयस्य चक्षुर्निर्गमद्वारस्य तदपेक्षया परिच्छिन्नत्वात् तत्राह-चक्षुष इति। चक्षुर्निर्गमद्वारस्येत्यर्थः। अभानेति। गोलकादनिर्गतस्य चक्षुषो न ग्राहकत्वं ग्राह्यासम्बद्धादिति भावः। सर्वगतमावृणोतीत्य-

नारायणी।

अनपेक्षायामपि सृष्टिदृष्टिपक्षानुसारेण सिद्धान्तयितुमुपक्रमते—उच्यत इति। परिच्छिन्ना-सर्वदेशकालवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगिनी, असर्वगता-स्वकल्पितैकदेशे विद्यमाना, अविद्या-अघटितघटनापटीयसी, अनिर्वचनीयत्वेन-सदसद्भिन्नत्वेन, विचारासहा-धर्मिभिन्नत्वाभिन्नत्वाभ्यां निरूपणानर्हा। आवरणं-सतो नास्तीति धीः अस्तीति व्यवहारप्रतिबन्धश्चेत्यादिः, विक्षेपः-आकाशादिप्रपञ्चः, तदनुकूलशक्तिद्वयवती। तथाचासर्वगताया अपि सर्वगतावरकत्वं तदनुकूलशक्तिमत्त्वादिति भावः। परिच्छिन्नस्य स्वापेक्षयाऽतिव्यापकावरकत्वे दृष्टान्तमाह—अङ्गुलिरिवेति। न स्वापेक्षयाऽङ्गुलिर्व्यापकमावृणोति किन्तु स्वापेक्षया परिच्छिन्नमेव तथाचासिद्धो दृष्टान्त इत्याशङ्कां परिहरति-तत्रेति। तत्र दृष्टान्ते, चक्षुषः-चक्षुरिन्द्रियस्य, आवरणे-निर्गमप्रतिबन्धे। अभानेति। गोलकादनिर्गतस्य

(१) असर्वगतेत्यधिकं कखपुस्तकयोः नारायण्यां च।

रणमन्तरेण विक्षेपानुपपत्तेश्च। ततः(१) सा पूर्वपूर्वसंस्कारजीवकर्मप्रयुक्ता सती निखिलजगदाकारेण परिणमते। सा च स्वगतचिदाभासद्वारा चित्तादात्म्यापन्नेति तत्कार्यमपि सर्वमाभासद्वारा चिदनुस्यूतमेव। तथा च चैतन्यस्य दीपवत्स्वसम्बद्धसर्वभासकत्वात्

न्यायरत्नावली।

त्र हेत्वन्तरमाह--अधिष्ठानेति। अनुपपत्तेः-अनुपलब्धेः। संस्कारेति। सकलकार्यसूक्ष्मावस्थेत्यर्थः। प्रयुक्ता—सहकृता। चिदाभासद्वारा चित्तादात्म्येति। चित्तादात्म्यवत् आभासतादात्म्यवतीत्यर्थः। वार्तिकमते पक्षद्वयम्। तत्र चिदाभासस्यैव जगदधिष्ठानत्वपक्षे (२)*तस्यैव साक्षित्वेनाविद्यादिभासकत्वम्। तच्च चिदाभासस्य मिथ्यात्वेपि चित्तादात्म्यादुपपद्यते। आभासाविविक्तचित एव जगदधिष्ठानत्वपक्षे* तस्या एव सर्वभासकत्वेन अविद्यातादात्म्यस्य वाच्यत्वात्। चिदाभासद्वारेत्यादेः चिदाभासतादात्म्यवत्त्वात् चित्तादात्म्यवतीत्यर्थः। तत्कार्य—कार्यरूपापन्ना सा। सर्वभासकत्वात्—सर्व-

नारायणी।

चक्षुषो न ग्राहकत्वं ग्राह्यासम्बन्धादिति भावः। सर्वगतमावृणोतीत्यत्र हेतुमाह—अधिष्ठानेति। शुक्त्यंशस्येव परिपूर्णानन्दरूपाश्रयविशेषस्याभानं विना कार्यासम्भवादित्यर्थः। अधिष्ठानभाने भ्रमानुत्पत्तेरिति भावः। सृष्टौ क्रमवैचित्र्यं ज्ञापयिष्यन् विशेषसामग्रीसहकृताविद्यातो जगदुत्पत्तिमाह—ततश्चेति। सर्वगतावरणाच्चेत्यर्थः। संस्कारेति। कार्यसूक्ष्मावस्थेत्यर्थः। अनेन वैचित्र्योपपत्तिः सूचिता। जीवकर्मेति। जीवादृष्टेत्यर्थः। अनेन पौर्वापर्यक्रमस्योपपत्तिःसूचिता। प्रयुक्ता-सहकृता। सृष्टिकथनस्य प्रयोजनमाह—सा चेत्यादि। सा च अविद्या चिदाभासद्वारा चित्तादात्म्यापन्ना-चिदाभासतादात्म्यवत्त्वादाभासतादात्म्यापन्नचित्तादात्म्यवतीत्यर्थः। चिदनुस्यूतं-भासकचित्सम्बद्धम्। सर्वावभासकत्वात्-अस्ति-

(१) ततश्च सेति कखपुस्तकयोः नारायण्यां च।
(२) *···*चिह्नितः पाठः प्रमादभ्रष्टो गपुस्तके।

जगदुपादानचैतन्यं प्रमाणापेक्षामन्तरेणैव सर्वदा सर्वं भासयत् सर्वज्ञं भवति । तेन तत्र न मानमेयादिव्यवस्था किन्तु जीवे । तस्य बुद्ध्यवच्छिन्नत्वेन परिच्छिन्नत्वात् । तेन चिदाभिव्यक्तियोग्येन (१)येनान्तः-

न्यायरत्नावली ।

स्मिन्नस्ति भातीति प्रयोजकत्वात् । भासयदुक्तव्यवहारविषययोग्यं कुर्वत् । तथा च जीवस्य सुखादाविव ईश्वरस्य दृश्यमात्रे आभासरूपप्रतिबिम्बद्वारा साक्षात्कारः । अनादिष्वपि दृश्येषु सर्वेष्वाभासस्वीकारात् । विवरणकारमते तु विद्यमानेषु प्रत्यक्षरूपा, भाविषु अनुमितिरूपा, अतीतेषु स्मृतिरूपा मायावृत्तिः स्वीक्रियत इति ताभिरेव ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वं सदेति तत्रोक्तम् । वाचस्पतिमते तु प्रतिबिम्बमायावृत्त्योरीश्वरस्यास्वीकारेऽपि वक्ष्यमाणं वृत्तेरभेदाभिव्यक्त्यर्थपक्षमनुसृत्य तदनुसारिसर्वज्ञत्वं सर्वदृश्याचिदभिन्नचिद्रूपत्वं बोध्यम् । सुखादौ जीवस्येव , सर्वदृश्येषु ईशस्या-

नारायणी ।

भातीति सर्वव्यवहारजनकत्वात् । भासयन्निरुक्तरूपेण प्रकाशयत् । सर्वज्ञं-सर्वविषयकेक्षणरूपमायावृत्तिमत् । तेन-चिदाभासद्वारासर्वसम्बन्धस्य प्रमाणद्वारकसम्बन्धापेक्षाया अभावेन, तत्र-ईशचैतन्ये, (२)(न मानमेयादिव्यवस्था)-न मानमेयादिकृतप्रतिकर्मव्यवस्था । ननु जीवेऽपि कथं व्यवस्था? तस्यानावृतचितोऽभेदात्तत्राह—तस्येति । जीवस्येत्यर्थः । बुद्ध्यवच्छिन्नत्वेन-अन्तःकरणावच्छिन्नत्वेन,परिच्छिन्नत्वात्-सर्वासम्बद्धत्वात् । (३)* तथाच ग्राहकचिदभेदेऽपि ग्राहकतदीयोपरागाभावान्नास्य सर्वावभासोऽतो मानमेयाव्यपेक्षेत्यादौ* सामान्यतः प्रतिकर्मव्यवस्थां दर्शयति-तेनेति । तेन-जीवस्योपाधिकृताऽसर्वसम्बन्धेन, चिदभिव्यक्तिः-चित्प्रतिबिम्बसम्बन्धः, सत्त्वप्राधान्याच्चिदुपाधिता वा । येन येन-चत्रमै-

(१) येन येनेति कखपुस्तयोः नारायण्यां च ।

(२) अन्यचिह्नरहित एतच्चिह्न( )द्वयमध्यगतः पाठः केषुचित्पुस्तकेष्वनुपलब्धोपि आवश्यकत्वात् वर्धितोऽस्माभिरिति बोध्यम् । एवमग्रेपि ।

(३) *...* चिन्हान्तर्गतः पाठो नास्ति खपुस्तके ।

करणेन यदा यत्सम्बद्धं भवति, तदेव तदा तदवच्छिन्नो जीवोऽनुभवतीति न साङ्कर्यप्रसङ्गः। एवमत्र प्रक्रिया। शरीरमध्ये स्थितः सर्वशरीरव्यापकः सत्त्वप्रा-

न्यायरत्नावली।

ज्ञानाविषयत्वघटितं वा तद्वाच्यम्(१)।+तत्पक्षे तस्यैव साक्षित्वेन अविद्यादिभासकत्वम्। तच्च चिदाभासस्य मिथ्यात्वेऽपि चित्तादात्म्यादुपपद्यते। आभासाविविक्तचित एव जगदधिष्ठानत्वपक्षे तस्या एव सर्वभासकत्वेन अविद्यादितादात्म्यस्य वाच्यत्वात् चिदाभासद्वारेत्यादेरिति भावः+। ननु चिदभिव्यक्तियोग्यत्वादिकं कीदृशम्? तत्राह—एवमित्यादि। (२)शरीरमध्यस्थसुखादिरूपेण परिणममानत्वात् शरीरमध्यस्थः युगपद्धस्तपादाद्यवच्छिन्नसुखदुःखादिरूपेण परिणममानत्वात् शरीरावयवेषु सर्वेषु व्यापकः। सात्त्विकज्ञानसुखादिपरिणामवत्त्वादाह—सत्त्वप्राधान्ये-

नारायणी।

त्रीयेण, यदा-तत्तदाकारसाक्षात्कारादिवृत्तिजनकासाधारणप्रमाणसमवधानदशायाम्, यत्-किञ्चिदविद्यातत्कार्यजातम्, सम्बद्धम्-अन्वितम्, तदेव-तत्प्रमाणव्यापारेणान्तःकरणान्वितं वस्तु, तदा-तत्तत्प्रमाणवृत्तिदशायाम्, तदवच्छिन्नो जीवः-अन्तःकरणावच्छिन्नः प्रमाता, न साङ्कर्यप्रसङ्गः-न युगपत्सर्वार्थग्राहकत्वप्रसङ्गः। न वा पश्यामि, जिघ्रामि, स्पृशामि, स्वादयामि, शृणोमि, जानामि, अनुमिनोमि, उपमिनोमि, शाब्दयामि, इत्यादिप्रतीतिसिद्धचाक्षुषत्वादिविजातीयधर्मानवच्छिन्नतया ईशस्येव ग्रहप्रसङ्गः। प्रतिकर्मव्यवस्थायाः परिच्छिन्नत्वेनापेक्षोक्तेरिति भावः। विशदयितुमाह-एवमिति। शरीरमध्यस्थः सुखादिरूपेण परिणममानत्वात् शरीरमध्ये स्थितः। सर्वशरीरव्यापकः-सर्वशरीरावयवेषु व्यापकः। युगपद्धस्तपादाद्यवच्छिन्नसुखदुःखादिरूपेण परिणममानत्वात्। ज्ञानाकारवृत्तेरेवाधिकपरिणामदर्शनदाह-सत्त्वेति। अनेन रजस्तमोन्वयो-

(१) वाच्यमिति भावः। ननुचिदभिव्यक्तीत्यादिः घपुस्तके पाठः। अर्थात् +...+ चिह्नद्वयमध्यस्थः पाठो नास्तीति।

(२) शरीरमध्यस्थः इति पाठो गपुस्तके।

धान्येन सूक्ष्मपञ्चभूतारब्धः अन्तःकरणाख्यः अविद्याविवर्तो दर्पणादिवदतिस्वच्छः नेत्रादिद्वारा निर्गत्य योग्यान् घटादीन् विषयान् व्याप्य तत्तदाकारो भवति

न्यायरत्नावली ।

नेति । उत्क्रमणसमये गतिविघाताभावादाह—सूक्ष्मेति । पञ्चभूतगुणानां ग्राहकत्वादाह—पञ्चभूतेति । आरब्धेति । परिणामेत्यर्थः । सत्त्वांशाधिक्ययुक्तापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतपरिणाम इति समुदायार्थः । विवर्तः—परिणामः । भूतानां विशेषपरिणामित्वेऽपि सामान्यपरिणामिन्यविद्येत्यर्थः । अतिस्वच्छः-स्वसम्बधिनः प्रतिबिम्बोत्पत्तियोग्यः । नेत्रादीति । नेत्रादिद्वारा बहिरिन्द्रियेण संयुक्तो भूत्वा तेनैव रूपेण घटादिभिस्संयुक्तो भूत्वा घटादिविषयकचाक्षुषादिरूपेण परिणमत इत्यर्थः । मनस्संयुक्तेन्द्रियविषयसन्निकर्षस्य चाक्षुषादिहेतुत्वज्ञापनाय व्याप्य तत्तदाकारो भवतीत्युक्तम्।मनस इन्द्रियमिश्रितत्वेन मनोव्याप्तिकथनेनैव इन्द्रियव्याप्तिलाभात्। तावता च चाक्षुषादिमनोवृत्तेः घटादिस्वविषयसंयुक्तत्वमावश्यकम्। मनसश्चक्षुरादीन्द्रियसंयोगकाले चाक्षुषानुत्पत्तावपि चक्षुरादिमनोयोगचक्षुरादिविषयसंयोगयोः न पार्थक्ये कारणत्वं किन्तु शक्तिविशेषरूपेण एकमेव कारणत्वम् । मनोसंयुक्तचक्षुर्विषयसंयोगे तादृशशक्तिविशेषास्वीकारेणातिप्रसङ्गभङ्गादित्यपि ज्ञा-

नारायणी ।

ऽपि ज्ञापितः कामनिद्रादिवृत्तीनामुपलम्भात् । उत्क्रमणसमये गतिविविघाताभावादाह-सूक्ष्मेति । पञ्चभूतानां गुणग्राहकत्वादाह-पञ्चेति । आरब्धः-परिणामः सत्त्वांशाधिक्ययुक्ताऽपञ्चीकृतपञ्चभूतपरिणाम इति समुदायार्थः । विवर्तः-परिणामः । भूतानां विशेषपरिणामित्वेऽपि सामान्यपरिणामिन्यविद्येत्यर्थः । अतिस्वच्छः-सान्निध्यमात्रेण प्रतिबिम्बग्रहसमर्थः, सत्त्वप्रधानत्वात्प्रमातृभावादियोग्यो वा । नेत्रादिद्वारा-नेत्रस्थानादिच्छिद्रमार्गेण, योग्यान्महत्त्वोद्भूतरूपवदालोकादिसंयोगविशिष्टान्, व्याप्य तत्तदाकारा भवति-पृथुबुध्नाद्याकारताशालिचाक्षुषादिवृत्तिरूपेण

द्रुतताम्रादिवत् । तस्य च सौरालोकादिवद् झटित्येव

न्यायरत्नावली ।

पितम् । द्रुतताम्रादिवदिति । यथा द्रवीभूतताम्रादि मूषापात्रादौ क्षिप्तं पश्चाद्वाय्वाद्यपसारिततेजोभागं सत् कठिनीभवति, तथा मनो घटादिसन्निकृष्टेन्द्रियसंयुक्तं तदाकाराख्यविषयतासम्बन्धेन घटादिसम्बद्धं चाक्षुषादिरूपं भवतीत्यर्थः । ननु कथमतिशीघ्रमेव मनसस्सूर्यमण्डलादिसंयोगः तत्राह–तस्येति । ननु मनस इन्द्रियसंयुक्तत्वेऽपि घटादिसंयोगे मानाभावः, घटादिसंयुक्तभागावच्छेदेनैव इन्द्रिये तत्संयोगसम्भवात् । न च विषये मनस्संयोगं विना विषयचैतन्याभिन्नप्रमातृचैतन्यरूपस्य विषयसाक्षात्कारस्यानुपपत्तिरिति वाच्यम् ।(१)*विषयाकाराया अनिर्गताया अपि इन्द्रियजन्याया मनोवृत्तेर्विषयसाक्षात्कारसम्भवात् आत्मसुखादौ मनःकरणकस्यैव साक्षात्कारस्य वाचस्पतिमते स्वीकारात्*। अथ विनिगमकाभावादिन्द्रियघटादिसंयुक्तभागावच्छेदेनापि मनस्सं-

नारायणी ।

परिणमते इत्यर्थः । विषयेन्द्रियसन्निकर्षस्येव विषयमनोयोगस्यापि हेतुत्वज्ञापनाय व्याप्य तत्तदाकारो भवतीत्युक्तम् , अत्र दृष्टान्तः–द्रुतेति । यथा द्रवीभूतताम्रं मूषापात्रे निक्षिप्तं वाय्वाद्यपसारिततेजोभागं सत्कठिनं भवति, तथा मनो विषयसंयुक्तं सदाकाराख्यविषयतासम्बन्धेन घटादिसंबद्धचाक्षुषादिरूपं भवतीत्यर्थः । निर्गत्य–निःसृत्य । देशान्तरे गतस्य विषयाकारतायां दृष्टान्तस्तडागोदकमिति। 'तद्यथा तडागोदकं छिद्रान्निःसृत्य कुल्यात्मना केदारेषु प्रविश्य केदाराकारं भवती'त्यादि स्पष्टम् । ननु कथमतिशीघ्रमेव मनसः सूर्यमण्डलादिसंयोगस्तत्राह–तस्येति । (२)स्पष्टम्। ननु 'युगपज्ज्ञानानुपपत्तिर्मनसो लिङ्गमि'ति सूत्रयता भगवताऽक्षपादेन मनसोऽणुत्वसमर्थनात्तस्य चाणोर्बहिर्निर्गमने सद्योमरणा-

(१) *साक्षात्कारत्वजातिस्वीकारेणैव तदुपपत्तेः चाक्षुषत्वादिजात्यैव पश्यामीत्यादिप्रत्ययस्य त्वयाप्युपपादनीयत्वात्* । चिन्हमध्यगः पाठो भिन्नो घपुस्तके ।

(२) स्पष्टमिति । सौरप्रभा यथा मेघाद्यावरणे सति सङ्कुचिता भवति मेघाद्यपगमे च झटित्येव जगद् व्याप्नोति तद्वदित्यर्थः ।

सङ्कोचविकासावुपपद्येते । स च सावयवत्वात्

न्यायरत्नावली ।

युज्यते। (१)+सावयवत्वाच्च युगपत्पादहस्ताद्यवच्छिन्नसुखादिपरिणामवत्+। किञ्च इन्द्रियसन्निकर्षं प्रति चाक्षुषादेः घटादिनिष्ठेन विषयतासम्बन्धेनैवावच्छेदकतासम्बन्धेनापि विनिगमकाभावेन कार्यतासम्भवात्, चाक्षुषादिमनोवृत्तेस्स्वविषयावच्छिन्नत्वासिद्ध्या बहिर्निर्गमस्यावश्यवाच्यत्वेन घटादिसंयोगस्यापि सम्भवः । न च (२)चक्षुरादेर्घटादिनिष्ठविषयताकत्वसिद्धौ विषयतासम्बन्धेनेन्द्रियसन्निकर्षकार्यत्वस्यावश्यकतया सैव तत्र विनिगमिकेति वाच्यम् । विशिष्टविषयकबुद्धित्वेन बाधाभावादिकार्यत्वस्यावश्यकतया तत एवोक्तसिद्धिसम्भवात् उक्तकार्यस्यानावश्यकत्वात् । न च निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य उक्तसिद्धयै तादृशमिन्द्रियसन्निकर्षकार्यत्वमावश्यकमिति वाच्यम् । उक्तप्रत्यक्षे मानाभावात् । न च 'जातिमान घट' इत्यादौ शुद्धघटत्वादिप्रकारताप्रयोजकत्वेन घटत्वादिनिर्विकल्पकसिद्धिरिति वाच्यम् । विजातीयसन्निकर्षत्वेनैव उक्तविषयताकधीहेतुत्व(३)सम्भवात् । अनन्तकोटिनिर्विकल्पककल्पने गौरवादिति चेन्न । तथापि(४) घटादिसंस्पृष्टस्य मनसश्शरीरसंसर्गे मानाभावेन शरीरावच्छिन्नमनोभागावच्छिन्नचितश्चाक्षुषादिकालेऽपि प्रमातृत्वसिद्धान्तानुपपत्तेः, तत्राह—स चेत्यादि । अवच्छिन्नः—शरी-

नारायणी ।

पत्तेर्विषयसन्निकर्षव्याप्तिरयुक्तेत्यत आह—स चेति। (५)अविद्याविवर्तश्चेत्यर्थः । सावयवत्वात्—भूतसूक्ष्मांशरूपावयवत्वात् । 'अन्नमयं हि सौम्य मन' इत्यादिश्रुत्या भूतकार्यत्वोक्त्या सावयवत्वज्ञापनादिति भावः । अतो

(१) + तत्सम्भवात् तस्य सावयवत्वात् । सावयवत्वं च युगपद्पादहस्ताद्यवच्छिन्नसुखादिपरिणामवत्वात् + । इति पाठो भिन्नो घपुस्तके ।

(२) चाक्षुषादेर्घटादिनिष्ठविषयताकत्वासिद्धौ इति घपुस्तके पाठः युक्तश्च ।

(३) हेतुत्वकल्पनादिति घपुस्तके । (४) तथाहीति गपुस्तके ।

(५) अन्तःकरणाख्यः अविद्याविवर्तश्चेति खपुस्तके ।

परिणममानो देहाभ्यन्तरे घटादौ च सम्यग्व्याप्य देहघट-योर्मध्येऽपि चक्षुर्वदविच्छिन्नोऽवतिष्ठते। तत्र(१) दे-हेऽन्तःकरणभागोऽहङ्काराख्यः कर्तेत्युच्यते। (२)देह-विषयमध्यवृत्तिदण्डायमानस्तद्भागः वृत्तिज्ञानाख्यः क्रियेत्युच्यते। विषयव्यापकस्तद्भागो विषयस्य ज्ञानक-र्मत्वसम्पादकमभिव्यक्तियोग्यत्वमित्युच्यते। तस्य च

न्यायरत्नावली।

रघटादितदन्तरालदेशेषु युगपत्संयुक्तः। तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह—चक्षुर्वदिति। चक्षुरादीन्द्रियस्य यथा जीवनदशायां न शरीर-त्यागः, जीवनादृष्टस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वात् तथा मनसोऽपीत्य-र्थः। कर्तेति। क्रियानुकूलेन्द्रियसंयोगादिव्यापारवत्त्वादिति शेषः। ज्ञानकर्मत्वसम्पादकम्—आवरणनिवृत्त्यादिरूपस्य ज्ञानक्रियाजन्य-फलस्य सम्पादकम्। तत्र हेतुः—अभिव्यक्तियोग्यत्व-

नारायणी।

युगपन्नानावृत्त्याकारपरिणामोऽपि युज्यत एवेत्यभिप्रायेणाह—परिणममान इति। तस्मादेवाभ्यन्तरे बहिश्च स्थितिरपि युज्यत इत्याह—देहेति। देह-घटयोर्मध्येपीत्यपिना मध्येऽन्तराले सम्यग् व्याप्त्यभावः सूचितः, मध्ये व्याप्तिफलस्य प्रमादैरनुपलम्भादित्यन्यत्र विस्तरः। अविच्छिन्नः—शरी-रघटान्तरालदेशेषु युगपत्संयुक्तः। तत्र दृष्टान्तः—चक्षुर्वदिति। यथा चक्षुर-दृष्टवशाज्जीवद्दशायां शरीरं न त्यजति अन्धत्वप्रसङ्गात्, नापि मध्ये व्यव-च्छेदः खण्डितत्वप्रसङ्गात्, मनःसंयुक्तेन्द्रियस्य विषयेन सह संयोगाभा-वेनाग्राहकत्वप्रसङ्गाच्च एवं मनसोपीति भावः। अन्तःकरणस्य सर्वत्राव-स्थितिप्रयोजनमाह—तत्रेति। तत्र—तेषु भागेषु मध्ये। कर्ता—कार्यानुकूलकृति-मान्। चेतनावृत्तिमत्त्वादिति भावः। ज्ञानकर्मत्वेति। आवरणनिवृत्त्यादिरूप-स्य ज्ञानरूपक्रियाजन्यफलस्य संपादकं तत्र हेतुः—अभिव्यक्तीति। आवर-णनिवृत्तिरूपाभिव्यक्तिं प्रति कारणीभूताया वृत्तिज्ञानरूपक्रियाया योग्यता-रूपमित्यर्थः। विषयसंसृष्टस्वभागावच्छिन्नक्रिया विषयाभिव्यक्तिजननयो-ग्या भवतीति भावः। अन्तःकरणविभागकथनस्य प्रयोजनमाह—तस्येति।

(१) देहावच्छिन्नान्तःकरणेत्यादिः कपुस्तके।

(२) देहघटयोर्मध्यवर्ती दण्डायमानेत्यादिः कखपुस्तकयोः।

त्रिभागस्यान्तःकरणस्यातिस्वच्छत्वात् चैतन्यं तत्राभिव्यज्यते। तस्य चाभिव्यक्तस्य चैतन्यस्य एकत्वेऽप्यभिव्यञ्जकान्तःकरणभागभेदात् त्रिधा व्यपदेशो भवति। कर्तृभागावच्छिन्नचिदंशः प्रमाता। क्रियाभागावच्छिन्नचिदंशः प्रमाणम्। विषयगतोऽभिव्यक्तियोगत्वभागावच्छिन्नचिदंशः प्रमितिरिति। प्रमेयं तु विषयगतं

न्यायरत्नावली।

मिति। आवरणनिवृत्त्यादिरूपाभिव्यक्तिं प्रति कारणीभूताया वृत्तिज्ञानरूपक्रियाया योग्यतारूपामित्यर्थः। विषयसंसृष्टस्वभागावच्छिन्नाक्रिया विषयनिष्ठाभिव्यक्तिजननयोग्या भवतीति भावः। प्रमातेति। प्रमानुकूलव्यापारवत्त्वादिति शेषः। प्रमाणमिति। विषयसंसृष्टभागरूपप्रमासिद्ध्यर्थं प्रमातृव्यापाराविशिष्टत्वात् तादृशप्रमां प्रति अयोगव्यवच्छेदेन कारणत्वाच्चेति शेषः। प्रमात्रा व्यापृता हि वृत्तिर्विषयेण संसृज्यते, विषयसंसृष्टभागाऽयोगशून्या चेति भावः। प्रमितिरिति। अज्ञातविषयभागत्वादिति शेषः। तद्व्यवधानेन अज्ञातविषयाभिव्यक्तिरूपफलदर्शने तस्यैवाज्ञात-

नारायणी।

अतिस्वच्छत्वात्-प्रतिबिम्बासम्बन्धयोग्यत्वात्। तत्र-त्रिभागेऽन्तःकरणे,अभिव्यज्यते-प्रतिबिम्बितं भवति। अस्तु प्रतिबिम्बस्तथापि तस्यैकस्य प्रमात्रादिव्यवस्था कथं तत्राह-तस्येति। स्पष्टम्। त्रिधाव्यपदेशमेव स्पष्टयति-कर्तृभागेति। शरीरसम्बद्धान्तःकरणभागावच्छिन्नेत्यर्थः। प्रमाता-धात्वर्थज्ञानानुकूलव्यापारवत्त्वादिति शेषः। क्रियाभागेति। अन्तरालदेशावच्छिन्नान्तःकरणभागावच्छिन्नेत्यर्थः। प्रमाणं-विषयसंसृष्टभागरूपप्रमाया अयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धि,फलायोगव्यवच्छिन्नकारणस्यैव करणत्वाङ्गीकारात्। इन्द्रियादीनां तु प्रयोजकत्वेन करणत्वव्यपदेशो भाक्त इति भावः। विषयेति। घटादिरूपविषयगतो यः प्रमाणवृत्तेर्योग्यतारूपो भागः विषयसंसृष्टभागावच्छिन्नत्वेनैव प्रमावृत्तेरभिव्यक्तिकारणतावच्छेदकीभूतो भाग इति यावत्, तदवच्छिन्नचित्प्रतिबिम्बः प्रमितिरित्यर्थः। अज्ञातविषयकभागत्वादिति शेषः। तदनन्तरमेवाज्ञातविषया-

ब्रह्मचैतन्यमेव अज्ञातम् । तदेव च ज्ञातं सत् फलम् ।

न्यायरत्नावली ।

विषयकत्वमिति भावः । ब्रह्मेति । जीवचैतन्यस्य स्वत एवाभिव्यक्तत्वात् प्रमयाऽभिव्यज्यमानं ब्रह्मचैतन्यमेव प्रमेयमिति भावः । वस्तुतो ब्रह्म बृहत् जगदुपादानमिति यावत्, तथा च जीवस्य जगदुपादानत्वपक्षे विषयावच्छिन्नस्यैव प्रमेयत्वमिति ध्येयम् । ज्ञातम्—अभिव्यक्तम् । ननु चक्षुरादीनामपि प्रमाणत्वसम्भवात् दर्शनान्तरेषु उक्तत्वाच्च तदनूक्त्या न्यूनत्वमिति चेन्न । वृत्तिज्ञानस्य चक्षुरादिमिश्रितत्वेन तत्प्रमाणत्वोक्त्या चक्षुरादेरपि तल्लाभात्, प्रमासामान्यं प्रति करणस्य प्रकृते वाच्यत्वात्, मनसः प्रमासामान्यकरणत्वस्य दर्शनान्तरेष्वप्युक्तत्वाच्च, तदुक्तेरेव प्रकृतेयुक्तत्वाच्च । अत्र मनसोऽचेतनत्वेन स्वेतरसकलकारकप्रयोक्तृत्वरूपस्वातन्त्र्यात्मककर्तृत्वासम्भवात् मनोवच्छिन्नाचितः प्रमातृत्वमुक्तम् । 'जानामि घटं जानामि पट'मित्याद्यनुगताकारधीषु चिद्रूपस्यैकज्ञानस्य विषयत्वात् सुखादौ वृत्त्यस्वीकारेण तदवच्छिन्नाचित एव तज्ज्ञानत्वाच्च विषयसंसृष्टवृत्तिभागस्य ज्ञानत्वाभावेन प्रमितित्वस्याप्यसम्भवात् तदवच्छिन्नचितः तदुक्तम् । सा च वृत्त्यवच्छिन्नचितः विषयसंसृष्टात्मकं विशिष्टरूपमिति विशि-

नारायणी ।

भिव्यक्तिरूपफलदर्शनेन तस्यैवाज्ञातविषयकत्वादिति भावः । एकत्वेऽपि त्रिधा व्यपदेशो भवतीत्यनेन ग्रन्थेनान्तःकरणगत एक एव प्रतिबिम्बोऽन्तःकरणाभिन्नवृत्तीनां प्रमितित्वादिसम्पादको न तु तत्र प्रतिबिम्बान्तरमपि युक्तं प्रमाणाभावाद्गौरवाच्चेति ध्वनितम् । प्रमेयस्य सर्वसाधारणत्वात्प्रमेयं पृथगाह–प्रमेयन्त्विति । निरुक्तप्रमायां विषयस्त्वित्यर्थः । ब्रह्मेति । जीवचैतन्यस्य स्वत एवाभिव्यक्तत्वात्प्रमयाऽभिव्यज्यमानं ब्रह्मचैतन्यमेव विषय इति भावः । विषये घटादौ स्फूर्त्यर्थं विषयाकारवृत्तौ चित्प्रतिबिम्ब एव फलमिति मतनिरासायाह–तदेवेति । ब्रह्मचैतन्यमेव प्रमेयात्मकमेवेत्यर्थः । ज्ञातम्–अभिव्यक्तं निवृत्तावरणमिति यावत् । वृ-

अत्र च यस्मिन्पक्षे अन्तःकरणावच्छिन्नो जीवः यस्मिंश्च

न्यायरत्नावली ।

च्छ्रूपे केवलरूपस्य हेतुत्वात् , वृत्त्यवच्छिन्नचिदेव प्रमाण(१)मुक्तम् । तथा च विषयसंसृष्टवृत्त्यवच्छिन्नरूपेण प्रमात्वम् । प्रमाणत्वं तु विषयासंसृष्टवृत्त्यवच्छिन्नरूपेणेव शरीरासंसृष्टवृत्त्यवच्छिन्नरूपेणापि । शरीरसंसृष्टवृत्त्यवच्छिन्नचिद्रूपप्रमातुः प्रयत्नेन हि शरीरासंसृष्टवृत्त्यवच्छिन्नं व्याप्रियते प्रमानिष्पत्तये । अत एव शरीरसंसृष्टवृत्त्यवच्छिन्नचिद्रूपस्यैव प्रमातृत्वमुक्तम् । ननु कथं प्रमेयचितः प्रमाधीनाऽभिव्यक्तिः ? न तावत् प्रमातृचिदभेदः । अविद्यावच्छिन्नचिद्रूपजीवस्य जगदुपादानत्वपक्षे घटाद्यवच्छिन्नायाः प्रमेयाचितः अविद्यावच्छिन्नजीवचिद्रूपत्वेन जीवं प्रति घटादेः भानसम्भवेन घटादिचितः प्रमात्रभेदस्य व्यर्थत्वात् । न हि सुषुप्तौ प्रमात्रभावेऽपि अविद्यादिकं जीवं प्रति न भाति । न वा तेन भानेन जागरे न स्मर्यते । नाप्यावरणभङ्गः । मनोवच्छिन्नचितः जगदुपादानस्य अविद्याप्रतिबिम्बितचैतन्यस्य वा जीवत्वपक्षे तत्तादात्म्याभावादेव घटादीनाम् अभानसिद्धौ घटाद्याकारवृत्त्यभावकाले घटाद्यवच्छिन्नचित्सावरणस्वीकारस्य व्यर्थत्वात् , तद्भङ्गस्य प्रमाफलत्वासम्भवात् , तत्राह—अत्र चेत्यादि । अत्र प्रमात्रादिषु त्रिषु मध्ये । अन्तःकरणवृत्तिः प्रमा उभयत्रापि प्रमातृचिदुपरागार्थावरणभङ्गार्था चेति योजना । सर्वगतः—सर्वकार्यतादात्म्यवदवि-

नारायणी ।

त्याऽऽवरणे निवृत्ते ब्रह्मणैव स्वतःस्फूर्तिमता घटादेः स्फूर्तिसम्भवात्तदर्थं घटाकारवृत्तौ प्रतिबिम्बकल्पनमप्रामाणिकमिति भावः । ब्रह्मणैव यदि विषयप्रकाशस्तदा वृत्तेः कोपयोगस्तत्राह-अत्र चेति । अत्र-प्रमात्रादिमध्ये । अन्तःकरणवृत्तिः प्रमारूपा उभयत्रापि प्रमातृचिदुपरागार्था विषयगतचैतन्यावरणभङ्गार्था चेति योजना । सर्वगतः-सर्वकार्यतादात्म्याप-

(१) प्रमाणमुक्ता इति घपुस्तके । युक्तश्चेदम् , सा चेत्यनुसारात् ।

पक्षे सर्वगतोऽसङ्गोऽविद्याप्रतिबिम्बो जीवः, तत्रोभयत्रापि प्रमातृचैतन्योपरागार्था विषयगतचैतन्यावरणभङ्गार्था

न्यायरत्नावली।

द्योपाधिकः। असङ्ग इति। घटादितादात्म्यशून्य इत्यर्थः। जीवान्यचित एव जगदुपादानत्वात् जीवस्य तदभावेन घटादितादात्म्यशून्यो जीवः शुद्धचित् अविद्याबिम्बत्वोपहिताचिद्वा जगदुपादानमिति विवरणे उक्तम्। अविद्यागताभासाविविक्तचिद्रूप ईशस्तथेति वार्तिक उक्तम्। तत्र आद्याया अविद्याप्रतिबिम्बरूपविवरणोक्तजीवेशानुस्यूतत्वेन, द्वितीयाया अविद्यामनःप्रतिबिम्बरूपसंक्षेपशारीरकोक्तेशजीवानुस्यूतत्वेन, तृतीयायाः स्वस्मिन् स्वोपधेये मनोगतचिदाभासरूपे वार्तिकोक्तजीवेशानुस्यूतत्वेन सर्वदृश्येषु भासकत्वरूपसाक्षित्वसत्त्वात् तदधिष्ठानत्वप्रयोजकं तादात्म्यमावश्यकम्। अनादिदृश्येष्वपि तासामधिष्ठानत्वात्। जीवस्य तु न तेषु कथमपि तादात्म्यमिति भावः। प्रमातृचैतन्येति। जीवेत्यर्थः। स्वप्नेऽप्यविद्यावृत्तेः स्वाप्नविषयजीवयोरुपरागार्थत्वात्, स्वाप्नगजादेरस्वच्छत्वेन तत्र प्रतिबिम्बघटितोपरागस्य तत्साक्षात्कारार्थशुक्तिरूप्यादाविव आवश्यकत्वात्, स्वप्ने प्रमात्रभावस्य प्रमाणवृत्त्यभावप्रयुक्तस्य मूल एवाग्रे 'वृत्तिकान्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्यैव प्रमातृत्वादि'त्यादिना वक्ष्यमाणत्वात्। 'अहं घटं साक्षात्करोमी'ति व्यवहारार्थं तु प्रमात्रुपरागोऽपक्ष्यत एव। घटादिसाक्षात्कारस्य मनोवृत्तिघटितत्वेन तत्र प्रमात्रुपरागस्य आवश्यकत्वात्। उपरागेति। (१)प्रतिबिम्बाश्रयप्रमावच्छेदकत्वं घटादिनिष्ठं

नारायणी।

न्नाविद्योपाधिकः। असङ्गः-घटादितादात्म्यशून्यः। जीवान्यचित एव जजगदुपादानत्वात् जीवस्य घटादितादात्म्यशून्यतेति भावः। तथाचोपादानस्य ब्रह्मण एव विषयेण सह साक्षात्सम्बन्धाद्भासकत्वं सम्भवति न

(१) प्रमातृचितो घटादिनिष्ठप्रतिबिम्बा० इत्यादिः पाठः घपुस्तके।

न्यायरत्नावली ।

प्रत्यक्षस्थले सम्बन्धः । तेनैव 'घटं साक्षात्करोमि' इति व्यवहारसम्भवात् । प्रतिबिम्बाश्रयप्रमाविषयत्वं परोक्षस्थले । तेनैव 'घटमनुमिनोमि घटं जानामी'त्यादिव्यवहारसम्भवात् । ननु सुखादिषु जीवस्य तादात्म्यसम्बन्ध एव साक्षात्कारव्यवहारे नियामकः, घटादिषु तूक्तरूपवैरूप्यामिति चेन्न । ब्रह्मण एव जगदुपादानत्वपक्षे जीवस्य मनःसुखादौ प्रतिबिम्बद्वारैव सम्बन्धस्य वाच्यत्वेन मनस्सुखाद्यवच्छिन्नचिद्रूपस्य मनआदिसाक्षात्कारस्यापि (जीवप्रतिबिम्बाश्रयत्वेन जीवस्य)प्रतिबिम्बाश्रयसाक्षात्कारावच्छेदकत्वरूपसम्बन्धस्यैव मनस्सुखादिसाक्षात्कारनियामकत्वेन वैरूप्यात्।न च मनोऽवच्छिन्नचितः जीवत्वे मनोऽवच्छिन्नरूपेणैकेन बिम्बत्वं प्रतिबिम्बाधारत्वं च अनुपपन्नमिति वाच्यम्। मनोविशिष्टरूपेण द्वितीयस्य मनउपहितरूपेण आद्यस्य स्वीकारात् । मनसोऽपि स्वच्छत्वेन प्रतिबिम्बाधारत्वे विशेषणत्वम्। भोक्तृत्वरूपजीवकोटौ निवेशासम्भवेन जीवोपाधित्वेन तन्निष्ठे बिम्बत्वे उपाधित्वमेव । न च मनोविशिष्टचिद्रूपप्रतिबिम्बाश्रयं प्रति मनसो ऽवच्छेदकत्वे मानाभाव इति वाच्यम् । चिति जायमानं प्रतिबिम्बं प्रति मनसोऽवच्छेदकत्वेन प्रतिबिम्बविशिष्टं प्रत्यवच्छेदकत्वात् । विशेषणं प्रत्यवच्छेदकस्य विशिष्टं प्रत्यवच्छेदकत्वनियमात् । एवं सुखादेरवच्छेदकत्वं बोध्यम् । तस्मात् स्वप्रतिबिम्बाश्रयसाक्षात्कारावच्छेदकत्वमेव सर्वत्र विषये जीवस्य सम्बन्धः । वस्तुतस्तु स्वप्रतिबिम्बाश्रयावच्छेदकत्वं सर्वत्र सम्बन्धः । तत्र घटादौ प्रतिबिम्बाश्रयवृत्त्यवच्छेदकत्वमिन्द्रियसन्निकर्षनियम्यम् । मनस्सुखादौ प्रतिबिम्बाश्रयमनस्सुखावच्छेदकत्वं प्रतिबिम्बोत्पादकसामग्रीनि-

न्यायरत्नावली ।

जीवस्येति । 'घटमहं जानामी'ति जीवव्यवहारप्रयोजको वृत्तिघटितविषयसम्बन्ध आवश्यक इत्यभिप्रेत्याह–प्रमात्रिति । प्रमातृचैतन्यस्य जीवस्य

न्यायरत्नावली।

यम्यं मनस्सुखाद्युत्पादकसामग्रीनियम्यं वा। केवलमनस्सुखाद्यव-च्छेदेन चिति प्रतिबिम्बविशिष्टमनस्सुखादेरध्यासादिति भावः। ननु जीवोपरागार्था वृत्तिरिति न युक्तम्। साक्षिचैतन्यं हि विष-यभासकम्। तस्य च पूर्वोक्तत्रिविधस्यापि जगदुपादानत्वात् वि-षयोपरागो वृत्तिं विनापीति चेन्न। साक्षिणि जीवस्य तादात्म्यादि-सम्बन्धान्तरसत्त्वेऽपि वृत्तिं विना घटादेर्जीवं प्रत्यभानेन घटाद्यव-च्छिन्नवृत्तिविशिष्टजीवात्मकत्वरूपस्य साक्षिणि जीवोपरागस्य चावश्यकत्वात्। अत एवाद्वैतसिद्धावुक्तम्—'अधिष्ठानचिदेव प्रका-शमाना वृत्तिद्वारा जीवोपरक्ता जीवं प्रति विषयप्रकाशिके' ति। ननु ब्रह्मण्युक्तावच्छेदकत्वे मानाभावः, न हि सर्वव्यापकं वस्तु कस्यचिदवच्छेदकम्, न चावच्छेदकत्वे नियामकमिन्द्रियसन्निक-र्षादिकं ब्रह्मण्यस्ति, तथा च 'ब्रह्मसाक्षात्करोमी'ति व्यवहारा-नुपपत्तिः तत्राह—विषयगतेत्यादि। विषयसंसृष्टं यत् प्रमातृ-चैतन्यं प्रत्यावरणं तद्भङ्गार्थेत्यर्थः। तथा च ब्रह्मविषयकाज्ञान-शून्यसाक्षिविषयकोक्तव्यवहारः। न चैवम् 'घटं साक्षात्करोमी'-त्यादेरुक्तावच्छेदकत्वविषयकत्वेन वैरूप्यमिति वाच्यम्। वक्ष्यमा-णपक्षेऽप्येतादृशवैरूप्यसत्त्वात्। तत्र हि 'घटं साक्षात्करोमी'त्या-दौ घटादिनिष्ठो योऽज्ञानविषयतावच्छेदकत्वाभावस्तत्प्रयोजक-विशिष्टचैतन्यरूपस्साक्षात्कारो विषय इति 'ब्रह्म साक्षात्करोमी'-

नारायणी।

उपरागः विषयेण सह सम्बन्धः तदर्था तत्फलिकेत्यर्थः। प्रत्यक्षस्थले प्रति-बिम्बाश्रयप्रमावच्छेदकत्वरूपस्य, परोक्षस्थले प्रतिबिम्बाश्रयप्रमाविषयत्व-रूपस्य वृत्तिं विनाऽभावात् वृत्तिनिर्वाह्यत्वेन वृत्तिफलत्वमिति भावः। ननु चिदुपरागार्था वृत्तिस्तदा ब्रह्माकारावृत्तिर्व्यर्था अधिष्ठानब्रह्मणा साक्षा-देव जीवस्य (सम्बन्ध)सम्भवात् तत्राह-विषयेति। विषयसंसृष्टं यत्प्रमा-तृचैतन्यं प्रत्यावरणं तद्भङ्गार्थेत्यर्थः। तथाच सर्वत्र ब्रह्मसाधारणविषय-निष्ठाज्ञानावरणाभावप्रयोजकतयाऽन्तःकरणवृतिरिति भावः। सर्वग-

चान्तःकरणवृत्तिः। यस्मिंश्च पक्षेऽविद्यावच्छिन्नः सर्वगतो जीवः आवृतः, तस्मिन्पक्षे जीवस्यैव जगदुपादानत्वेन सर्वसम्बद्धत्वात् आवरणभङ्गार्था वृत्तिरिति

न्यायरत्नावली।

त्यत्र(१) ब्रह्मविषयकाज्ञानशून्यसाक्षात्कारो विषय इत्येव वाच्यमिति भावः। सर्वगतः—सता तादात्म्येन सर्वदृश्यसम्बद्धः। आवृत इति। घटाद्यवच्छेदेनाज्ञानविषयतावान्। ननु सर्वगतत्वे आवृतत्वे वा मानाभावात् कथं तत्पक्षे आवरणभङ्गार्था वृत्तिः तत्राह—जीवस्येत्यादि। सर्वसम्बद्धत्वादिति। आवृतत्वेनेति शेषः। घटाद्याकारवृत्तिं विनापि घटाद्याकारसाक्षात्कारव्यवहारापत्त्या ब्रह्मणीव घटाद्यवच्छिन्न(२)*जीवचैतन्येऽप्यज्ञानविषयत्वं स्वीक्रियत इति भावः। भङ्गेति। भङ्गमात्रेत्यर्थः। घटादौ जीवरूपाया अविद्यावच्छिन्न*चितस्तादात्म्यस्य स्वाभाविकत्वेन तस्यैव भासकतानियामकत्वसम्भवेन च न पूर्वोक्तोपरागार्थत्वं वृत्तेरिति भावः। ननु जीवस्य आवृतत्वं यदुक्तं तदयुक्तम्। सर्वदृश्यभासकं हि चैतन्यं साक्षी, वाचस्पतिमते जीवेशानुस्यूतशुद्धाचिदेव तथा वाच्यम्। तथा च तस्यैवावृतत्वं युक्तमिति चेन्न। यथा हि वार्तिकमते ईशस्य स्वं जीवं च प्रति सर्वदृश्यभासकत्वम् सर्वदृश्याधिष्ठानत्वात्,तथा वाचस्पतिमते जीवस्यैव तत एव(३) स्वमीशञ्च प्रति तत्। जगत्कामनाकृत्योरपि जीवाधिष्ठानकत्वमेव जीवाश्रिताविद्यापरिणामत्वात्। 'सोऽका-

नारायणी।

तः-सर्वदृश्येषु तादात्म्येन सम्बद्धः। आवृतः-घटाद्यवच्छेदेनाज्ञानावरणविषयः 'घटं न जानामी'त्यादिप्रतीतेः। नोपरागार्था वृत्तिरिति ज्ञापनायाह—जीवस्येति। आवरणभङ्गार्थेति। आवरणभङ्गार्थैव। आवरणनिवृत्त्या स्वतः सम्बद्धजीवेनैव भानोपपत्तेर्नोपरागार्था वृत्तिरस्मिन्पक्षे युक्तेति

(१) ब्रह्मनिष्ठाऽज्ञानविषयत्वाभावस्तत्प्रयोजकविशिष्टचैतन्यरूपः साक्षात्कारो विषय इति पाठो घपुस्तके। (२) *...* चिह्नितो भागः प्रमादभ्रष्टो गपुस्तके।

(३) तत एव—सर्वदृश्याधिष्ठानत्वादेव इत्यर्थः।

विवेकः। ननु चिदुपरागार्था वृत्तिरिति पक्षे स्वतोऽन्तःकरणसम्बद्धानां धर्माधर्मादीनां ब्रह्मणश्च वृत्तिमन्तरेणैव सर्वदा भानं स्यात्। न स्यात्। चैतन्यस्य तत्तदाकारत्वा-

न्यायरत्नावली।

मयते'त्यादिश्रुतिस्तु ब्रह्मणो जगदुपादानत्वश्रुतिवत् परिणाम्यविद्याविषयबोधिका। यथा च वार्तिकमते जीवः ईशतादात्म्यवान् तदुपादानकत्वात्, तथा वाचस्पतिमते ईशविषयकाविद्यावान् द्रव्यतादात्म्यवान् घट इव ईशतादात्म्यवान्वेति। (१)तस्य तं प्रतिभासकत्वसम्भवः। यथा च तन्मते सुखादिभासकत्वेन ईशस्य वृत्त्यपेक्षा, तथा वाचस्पतिमते जीवस्येशं प्रति, सर्वभासकत्वे तं प्रति विषयाणामनावृतत्वात्। स्वत इति। वृत्तिं विनापीत्यर्थः। अन्तःकरणसम्बद्धानां—जीवप्रतिबिम्बाश्रयमनोऽवच्छिन्नत्वादिसम्बन्धवताम्। ईशप्रसादकोपरूपधर्माधर्मयोरीशोपाधिमायापरिणामयोरपि तत्कारणयागादिक्रियावत् मनोऽवच्छिन्नत्वं स्वीक्रियते। तादृशमनोगतसुखादिजनकत्वादिति भावः। अधर्मादीनामित्यादिपदेन शुक्तिरूप्यादिसङ्ग्रहः। भानं स्यादिति। तथा च प्रतिबिम्बाश्रयमनस्तादात्म्यादिसम्बन्धेन सुखादिसम्बद्धजीवस्य 'सुखं साक्षात्करोमी'त्यादौ विषयत्वात् वृत्तिं विनापि ब्रह्मणि(इव) धर्मादावपि तथासम्बद्धजीवेन तत्तत्साक्षात्कारव्यवहारः स्यात्। शुक्तिरूप्यादावपि इदमाकारवृत्तिनिर्गमेन तादृशमनोऽवच्छिन्नचित्तादात्म्यमेव भासकतानियामकः सम्बन्धोऽस्तीति तत्राविद्यावृत्तिस्वीकारः सिद्धान्ते वृथेति भावः। स्वप्रतिबिम्बाश्रयावच्छेदकत्वसम्बन्धेन सुखादिसम्बद्धो जीवः, तत्साक्षात्कारो धर्मादौ तु

नारायणी।

भावः। स्वतः इति—वृत्तिं विनेत्यर्थः। धर्मादीत्यादिपदात् शुक्तिरूप्यादिपरिग्रहः। भानं स्यादिति। प्रतिबिम्बाश्रयमनस्तादात्म्येन सुखा-

(१) तस्य तु प्रतिभासकत्वसम्भव इति गपुस्तके।

भावात्। तदभावश्च स्वच्छेऽपि ब्रह्मचैतन्य आवरणात्।

न्यायरत्नावली।

प्रतिबिम्बाभावेन न जीवस्य तत्सम्बन्धेन धर्मादिसम्बद्धतेत्या-शयेनाह--न स्यादित्यादि। चैतन्यस्य--जीवस्य। तत्तदा-कारत्वाभावात्--स्वप्रतिबिम्बेत्यादिसम्बन्धेन धर्मादिसम्बद्धत्वा-भावात्। ननु घटाद्याकारायामिव ब्रह्माकारायामपि श्रवणमन-नादिपूर्वकालीनवृत्तौ जीवस्य (१)प्रतिबिम्बसम्भवात् घटादाविव ब्रह्मण्युक्तरूपप्रतिबिम्बाश्रयावच्छेदकत्वसम्भवात् कथं ब्रह्माद्या-कारत्वाभावः। एवमविद्यावृत्त्यभावेऽपि शुक्तिरूप्यादौ वृत्तिसा-मान्याभावेऽपि सुखादाविव धर्मादौ तत्प्रतिबिम्बसम्भवात् कथं तदाकारत्वाभावः तत्राह—तदभावश्चेति। स्वच्छे—जीवप्रति बिम्बयोग्यापातज्ञानरूपवृत्तिविषये। आवरणात्—आवरणयोग्या-परिच्छिन्नानन्दरूपत्वात्। तथा च परिच्छिन्नत्वेन ब्रह्मणो न प्र-तिबिम्बाश्रयवृत्ताववच्छेदकत्वसम्भव इति भावः। यथाश्रुतं तु स्वच्छादिपदं न सङ्गच्छते, अनावृतेऽपि ब्रह्मणि प्रतिबिम्बाधार-तावच्छेकत्वाभावेनावरणस्य तत्र प्रयोजकत्वात्। अथवा स्वच्छा-वरणपदयोः यथाश्रुत एवास्तामर्थः। ब्रह्मणि स्वच्छेऽप्यावृतत्वात् न जीवप्रतिबिम्बवत्त्वम्। चरमवृत्तौ सत्यां त्वावरणनाशेन तद्व-त्त्वसम्भवाद्ब्रह्माकारता। तथा च घटादौ भासकतया क्लृप्तस्य प्रतिबिम्बाश्रयावच्छेदकत्वस्याभावेऽपि ब्रह्ममनस्सुखादौ प्रति-

नारायणी।

दीनामिव धर्माधर्मादीनामपि साक्षात्कारः स्यादित्यर्थः। ब्रह्मणस्तु स्वा-धिष्ठानभूतस्याभेदरूपः सम्बन्धः स्फुट एवेति संक्षेपः। न यथाकथञ्चि-त्सम्बन्धमात्रं पदार्थभानप्रयोजकं किन्तु स्वप्रतिबिम्बाश्रयप्रमावच्छेदक-त्वमेव, तच्च तेषु नास्त्येवेति न तेषां भानसम्भव इत्याशयेनाह—न स्यादि-ति। चैतन्यस्य-प्रमातृचैतन्यस्य, तत्तदाकारत्वाभावात्-निरुक्तसम्बन्धेन सम्बद्धत्वाभावात्। एतदेव समर्थयति-तदभावेति। सम्बन्धाभावश्च।

(१) प्रतिबिम्बाभावे। ननु जीवस्येति गपुस्तक पाठः।

न्यायरत्नावली।

बिम्बवत्त्वमेव भासकतानियामकस्सम्बन्धः। यथा च ब्रह्मण्यज्ञानविषयत्वमावरणम्,घटादौ तु तदवच्छेदकत्वमज्ञानविषयचित्तादात्म्यं तथा ब्रह्ममनआदौ साक्षात्कारो जीवप्रतिबिम्बवत्त्वम्, घटादौ तु तदवच्छेदकत्वं तद्वृत्त्यवच्छेदकत्वं वा। एवं च 'साक्षात्करोमी'त्याकारकसर्वप्रत्ययेषु प्रतिबिम्बघटितविषयकत्वेनैकरूप्यम्। वस्तुतस्तु प्रतिबिम्बवत्त्वमेव सर्वत्र(१) सम्बन्धः। घटादावपि वृत्त्यवच्छेदककाले तत्सम्भवात्। अनुभूयते च जलाद्युपरक्ते मृदादिपात्रे सूर्यादेः प्रतिबिम्बम्। ननु प्रतिबि(२)म्बवत्त्वसम्बन्धेन स्वावच्छिन्नमनोवृत्त्यादिप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन वा घटादिविशिष्टस्य जीवस्य 'घटं साक्षात्करोमी'त्यादिप्रत्यये विषयत्वं पूर्वोक्तमयुक्तम्। साक्षात्करोत्यर्थ एव हि तत्र विषयः। स च विषयविशिष्टप्रतिबिम्बस्य प्रयोजकं मनोऽवच्छिन्नं चैतन्यम्। अन्यथा फलघटितार्थावाचकत्वेन साक्षात्करोतेरकर्मकत्वं स्यादित्युक्तं जानातिसाक्षात्करोत्यर्थविषयविवेचनप्रस्तावे। घटादिविशेषितस्य तदर्थत्वे च तस्य नानार्थत्वापत्तिरिति चेन्न। वस्तुगत्या घटादिविशिष्टं मनोऽवच्छिन्नं चैतन्यं तद्विषय इत्युक्तम्, न तु घटादिविशिष्टमनोऽवच्छिन्नचित्त्वेन चितो विषयत्वम्। तच्च विषयविशिष्टप्रतिबिम्बप्रयोजकमनोऽवच्छिन्नत्वेन घटादिविशिष्टाचितेः विषयत्वेऽपि न क्षतम्। मनोवच्छिन्नचित्तादात्म्यं च सुषुप्तजीवेऽप्यस्त्येव। मनस्त्वाश्रयस्य हि तादात्म्यं साक्षात्कारघटकम्, न तु तद्विशिष्टस्य। तथा च सौषुप्तमनोऽवस्थायां मनोजात्यभावेऽपि सकलमनोवस्थानुगतव्यक्तौ जागरस्वप्नकालयोः मनस्त्वसत्त्वेन तद्व्यक्तेरेव सौषुप्तमनोऽवस्थानुगतत्वात् सुषुप्तावपि मनस्त्वाश्रयोपहितचिदक्षता। ननु उक्तचिदपि न साक्षात्करोत्यर्थः। ज्ञानविशेषो हि सः। ज्ञानं च साक्ष्येव, तस्यैव सर्वदृश्यानुगतत्वेन ज्ञानत्वात्। न हि ज्ञानं सि-

(१) सर्वत्रेति गपुस्तके नास्ति। आवश्यकश्च। (२) प्रतिबिम्बितत्वेति घपुस्तके।

न्यायरत्नावली।

द्धान्ते प्रतिज्ञेयं भिन्नम्। उक्तं हि मूल एव=विषयविशेषोपरक्ततया ज्ञानं नाना स्वतस्तु (ज्ञानं) ज्ञानमित्येकं प्रतीयते=इति चेन्न। अधिष्ठानीभूतसाक्षिण(१) एव मनोऽवच्छिन्नत्वरूपेण ज्ञानत्वात्। तदुक्तमद्वैतसिद्धौ—'यत्र दृश्याध्यासस्तत्र ज्ञानत्वम्, न तु ज्ञानत्वविशिष्टेऽध्यास' इति। अत एव प्रतिकर्मव्यवस्थायामद्वैतसिद्धावुक्तम्—'अविद्योपहितचिद्रूपस्य जीवस्य जगदुपादानत्वपक्षे घटाद्यवच्छेदेन आवृतत्वादावरणभङ्गार्था वृत्तिः। जगदनुपादानत्वपक्षे तु जीवस्य विषयेषु सम्बन्धस्याभावात् तदर्थापत्तिः। पक्षद्वयेऽपि जीवस्यैव विषयावभासकत्वम्। मनोऽवच्छिन्नचितः जीवत्वे तु जीवस्य जगदुपादानब्रह्मचिदभेदाभिव्यक्त्याऽर्थापत्तिः। ब्रह्मचिदेव विषयावभासिकेति चरमपक्षे अभेदाभिव्यक्त्यर्थत्वस्य जीवोपरागार्थत्वे पर्यवसानात् अत्र मूले तथोक्तमिति ध्येयम्। यदि च साक्षिरूपस्य ज्ञानत्वमित्याग्रहः, तदा तादृशमनोवच्छिन्नचित्तादात्म्यविशिष्टसाक्ष्येव साक्षात्करोत्यर्थोऽस्तु। (नचोक्त) प्रतिबिम्बप्रयोजकसाक्ष्येव सोऽस्त्विति वाच्यम्। चैत्रीयमनोवृत्तिमादाय मैत्रस्यापि 'घटं साक्षात्करोमी' ति व्यवहारापत्तेः। प्रयोजकत्वंहि बिम्बविधया प्रकृते निवेशितम्। तथा च घटावच्छिन्नचैत्रियमनोवृत्तिप्रतिबिम्बितसाक्षिणो मैत्रीयमनोवच्छिन्नचिद्रूपे अहमर्थेऽपि सत्त्वादुक्तापत्तिः स्यादेव। मनोवच्छिन्नाचितः निवेशे तु तादृशवृत्तिनिष्ठप्रतिबिम्बप्रयोजकचैत्रमनोऽवच्छिन्नचितः मैत्रीयाहमर्थे तादात्म्याभावेन नोक्तापत्तिः। उक्तमनोऽवच्छिन्नचित्तो हि साक्षिणि विशेषणतया भानस्वीकारात् साक्षिविशेषेऽपि तादात्म्येन मकारत्वम्। यदि च विषयसाक्षात्कारशरीरे भासमाने साक्षात्कारे विषयस्या(२)

(१) साक्षिण्येवेति पाठ उपलब्धोपि न युक्तः। ज्ञानत्वादित्यस्य ज्ञानत्वस्वीकारादित्यर्थकत्वे क्लिष्टकल्पनमवधार्य शोधितोऽस्माभिरिति।

(२) विषयस्य द्वारीकृतस्य तादात्म्येति घपुस्तके।

न्यायरत्नावली ।

ध्यासिकस्य तादात्म्यस्य भानमावश्यकम् । तस्य भासकतानियामकत्वात्, तदा 'घटं साक्षात्करोमी'त्यादौ साक्षात्कारैकदेशे विषय इव साक्षिण्यपि घटादेस्तादात्म्यं द्वितीयाविभक्त्युपस्थापितं विशेषणतया भातीति स्वीक्रियताम् । एवं जानात्यर्थोऽपि पूर्वोक्तरीत्या प्रतिबिम्बप्रयोजकमनोऽवच्छिन्नचित्तादात्म्यविशिष्टः साक्ष्येवोच्यताम्, उच्यतां च 'घटं जानामी'त्यादौ जानात्येकदेशे प्रतिबिम्बे स्वाकारवृत्तिनिष्ठत्वाद्यन्यतमसम्बन्धाद्यवच्छिन्नं घटादेराधेयत्वमिव साक्षिणि घटादेस्तादात्म्यमपि द्वितीयाविभक्त्युपस्थापितं विशेषणमिति । एवं वृत्तेरावरणभङ्गार्थत्वपक्षे अज्ञानाविषयत्वप्रयोजकमनोऽवच्छिन्नचिद्विशिष्टसाक्षी साक्षात्करोतेरसत्त्वापादकाज्ञानाविषयत्वप्रयोजकमनोऽवच्छिन्नचिद्विशिष्टसाक्षी जानातेरर्थः । तदाप्युक्तरीत्या घटादेरज्ञानाविषयत्वे आधेयत्वस्यैव साक्षिणि तादात्म्यस्य द्वितीयाविभक्त्यर्थस्य विशेषणत्वम् । मनोऽवच्छिन्नचिति तादृशप्रयोजकत्वं च स्वनिरूपितं यदज्ञानं तद्विषयत्वाभावस्य समानकालीनं कारणं या अविद्या तत्तादात्म्यम् । कारणत्वं क्षेमसाधारणं प्रयोजकत्वरूपोऽखण्डधर्मो वा तत्स्थाने वाच्य इत्यादि साक्षात्करोत्यर्थविवचने पूर्वोक्तं बोध्यम् । यदि च चिदुपरागार्थत्वपक्षात् वृत्तेर्जीवचितो विषयावच्छिन्नचिदभेदाभिव्यक्त्यर्थत्वपक्षो भिन्नो वाच्यः, तदा विषयत्वाभावान्तरस्थले स्वप्रतियोगिकभेदस्य चिन्निष्ठो योऽभावः तस्यैव निवेशेन साक्षात्करोत्यर्थो वाच्यः । तदेकदेशे (१)साक्षिणि घटाद्यन्वितस्य तादात्म्यस्य द्वितीयाविभक्त्यर्थस्यान्वयः । स्वपदार्थोऽत्र पूर्वत्र च मनोऽवच्छिन्नचिदेव । जानात्यर्थस्तु पूर्ववदेव । वृत्तिसुखादौ प्रतिबिम्बास्वीकारादेवाभेदाभिव्यक्त्यर्थपक्षे इति

(१) चिति साक्षिणीति घपुस्तके ।

अनावृतेऽपि शुक्तिरजतादावस्वच्छत्वात्। धर्माधर्मादौ

न्यायरत्नावली।

स्वीकारे तु स्वतादात्म्यप्रयोजकत्वमेव मनोऽवच्छिन्नचिति विशेषणं वाच्यम्। तादात्म्ये च घटाद्याकारवृत्तिप्रतियोगिकत्वं 'घटं जानामी'त्यादौ सुखादिनिष्ठत्वं 'सुखं जानामी'त्यादौ द्वितीयया बोध्यते। यद्वा स्वीयाकाराख्यविषयता स्वतादात्म्यं स्वतादात्म्याश्रयतादात्म्यं चेत्याद्यन्यतमप्रयोजकं यन्मनः तद्विशिष्टसाक्ष्येव तत्पक्षे जानात्यर्थः। (१)इच्छाद्वेषादिपरिणामस्यापि मनस्त्वात्तदीयविषयत्वमपि मनोविषयत्वम्। द्वेषादिकमादाय घटादौ ज्ञानव्यवहार इष्ट एव। इदं तु बोध्यम्। ज्ञाने साक्षात्कारे च पूर्वोक्ते सर्वत्र मनसो न मनस्त्वेनैव निवेशः। 'ईशो जानाती'त्यादावीशस्य जगदनुपादानत्वपक्षे मनोविशिष्टतादात्म्यबाधात्। किन्त्वीशोपाधिमनोन्यतरत्वादिना निवेशः, ईशो मनोऽवच्छिन्नचिच्चेत्यन्यतराविशिष्टसाक्षिणो वेति। नन्वेवं वृत्तेश्चिदुपरागार्थत्वपक्षेऽपि ब्रह्मणि चिदुपरागावरणभङ्गोभयार्थकत्वात् केवलचिदुपरागार्थकत्वमद्वैतसिद्ध्युक्तमयुक्तमिति चेन्न। तस्य घटादिब्रह्मसाधारणं चिदुपरागमात्रं वृत्तेः प्रयोजन(२)मित्यर्थकत्वात् मुख्यफलं चिदुपराग एवेत्यर्थकत्वाद्वा। यत्तु द्रव्ये प्रतिबि-

नारायणी।

स्वच्छेऽपि–प्रतिबिम्बसम्बन्धयोग्येऽपि। ब्रह्मचैतन्ये–अधिष्ठानचैतन्ये,आवरणात्–श्रवणादिजन्यवृत्तेः पूर्वं 'ब्रह्म नास्ति न भाती'ति च विरुद्धव्यवहारजनकाज्ञानात्। तथाच श्रवणादिजन्यैव वृत्तिरज्ञाननाशिका न सामान्यवृत्तिरतो भासकसम्बन्धाभावान्न सदा तद्भानमिति भावः। शुक्तिरजतभानापत्तिं वारयति–अनावृत इति। प्रतीतिमात्रशरीरत्वेनाज्ञानसत्त्वाभावेन अज्ञानविषयतावच्छेदकत्वेऽपि। अस्वच्छत्वात्-तमःप्रधानाज्ञानपरिणामत्वात् प्रतिबिम्बावच्छेदकत्वायोग्यत्वात्। अनावृतत्वेऽपि तमःकार्यस्य तस्योत्पन्नमात्रस्य भानं विना वृत्तिमसम्भावितमिति चिदुपरागार्थं

(१) धीच्छेत्यादि घपुस्तके। (२) प्रयोजकमिति पाठो गपुस्तके।

तु अस्वच्छत्वादावृतत्वाद्वा। तेन स्वच्छेऽप्यावृते प्रमाणवृत्त्या तदाकारता। अनावृतेऽप्यस्वच्छे शुक्तिरजतादौ अविद्यावृत्त्या तदाकारता। अनावृते स्वच्छे

न्यायरत्नावली।

म्बवद्वृत्तिसंयोगः गुणादौ तु तस्यास्संयुक्तसमवायादिरिति, तदद्वैतसिद्ध्यादावुक्तमपि अननुगतत्वादुपेक्षितम्। अस्वच्छत्वात्–प्रतिबिम्बायोग्यत्वात्। नन्वीश्वरप्रसादकोपयोः सिद्धान्ते धर्माधर्मत्वस्वीकारात् जीवप्रसादकोपयोरिव तयोस्स्वच्छत्वमेव तत्राह—आवृतत्वाद्वेति। ईशं प्रति तयोरनावृतत्वेऽपि जीवं प्रत्यावृतत्वमिति भावः। तेन–स्वाभाविकेन ब्रह्माद्याकारत्वाभावेन, स्वच्छेऽप्यावृत इति पूर्ववदर्थः। ब्रह्मणीति शेषः। प्रमाणवृत्त्या–श्रवणाद्युत्तरं ब्रह्मास्मीति वृत्त्या। स्वच्छावृतब्रह्मविषयकतादृशवृत्त्येति समुदायार्थः। तदाकारता–साक्षिणो ब्रह्मविषयकाज्ञानशून्यता। अथवेत्यादिव्याख्यानपक्षे ब्रह्मप्रतिबिम्बिततेत्यर्थः। अनावृते—प्रातीतिकत्वात् अज्ञानविषयतानवच्छेदके, अविद्यावृत्त्या तदाकारता–शुक्तिरूप्याद्यवच्छिन्नाविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बतत्वरूपसाक्षिणः शुक्तिरूप्याद्याकारता। ननु यद्यपि विवरणादौ शुक्तिरूप्याद्याकाराविद्यावृत्तिरुक्ता, तथापि न युक्ता। प्रातीतिकरूप्यादेस्स्वच्छत्वसम्भवादिति चेन्न। व्यावहारिकरजतादेः चित्प्रतिबिम्बयोग्यत्व-

नारायणी।

तत्रापि वृत्तिरावश्यकीति भावः। दोषद्वयमेवेदं यद्यपि धर्मादावप्यस्ति तथाप्यन्यतरत्वेनैव तयोस्तत्र सम्बन्धव्यावर्तकता न मिलितस्य व्यावर्तकतेत्यभिप्रेत्य विकल्पमाह–अस्वच्छत्वात्–स्वभावविशेषकृतायोग्यत्वात्। आवृतत्वात्–फलसंस्काररूपाणां सूक्ष्मत्वेन जीवाज्ञानविषयत्वात्। तेन–स्वाभाविकेन, तत्तदाकारत्वाभावेन स्वच्छेप्यावृते इति पूर्ववत्। ब्रह्मणीति शेषः। प्रमाणवृत्त्या–वेदान्तप्रमाणजन्याखण्डाकारकवृत्त्या, तदाकारता–तत्सम्बन्धत्वमिति यावत्। अनावृते–प्रतीतिमात्रशरीरत्वेनाज्ञानविषयतावच्छिदनवच्छेदके। अविद्यावृत्त्या–ज्ञानाकारसत्त्वपरि-

तु सुखदुःखादौ स्वत इति नान्तःकरणसम्बन्धमात्रेण भा-

न्यायरत्नावली।

रूपस्वच्छत्वादर्शनेन तज्जातीयप्रातीतिकरूप्यादेः तदसम्भवात्। सत्त्वांशाधिकभूतपरिणामस्य मनआदेरेव स्वच्छत्वसम्भवेन तमोंशाधिकाविद्याया व्यावहारिकसाधारणरजतत्वाविशिष्टहेतुतया क्लृप्तायाः परिणामस्य प्रातीतिकव्यवहारादेः स्वच्छत्वासम्भवाच्च। सत्त्वांशाधिकाविद्यापरिणामस्य तदाकारवृत्तिज्ञानस्य चिन्निष्ठतदाकारतासम्पादकत्वेनावश्यकत्वात्। तमोंशाधिकाविद्याकार्यतावच्छेदके प्रातीतिकान्यत्वनिवेशे तु गौरवम्। आवश्यकी च प्रातीतिकाविद्यावृत्तिः, तत्तांशस्यैव संस्कारत्वात्। अनुमित्यादिवृत्तिनाशस्य रजताद्याकारत्वेन स्मृतिहेतुतायाः क्लृप्तत्वात्। रजताद्यवच्छिन्नचैतन्यनाशस्य (१)+रजतादितादात्म्यसम्भवेऽपि+ रजतादिसम्बन्ध्याकाराख्यविषयत्वाभावात्। विद्यमानसुखादौ त्वगत्या तदवच्छिन्नचैतन्यनाशस्यैव संस्कारत्वं कल्प्यते। अन्यथा मनःपरिणामे वृत्तिकल्पने वृत्तावपि तत्कल्पनापत्तेः। अतोऽनावृतस्य मनःपरिणामस्य स्मृतौ तदवच्छिन्नस्य चिन्नाशस्य तत्तादात्म्यापन्नचिन्नाशत्वेनैव हेतुत्वं कल्प्यते। अनावृतत्वं च स्वकाले बोध्यम्। तेन सुखादेः स्वनाशकाले आवृतत्त्वेऽपि न क्षतिः। अविद्यातत्सम्बद्धशुद्धचिज्जीवादेः स्मृतौ व्यभिचारात् मनःपरिणामत्वनिवेशः। अनावृते-साक्षिमात्रभास्यत्वात् अज्ञानाविषयत्वानवच्छेदके। स्वच्छे-स्वच्छमनःपरिणामत्वेन स्वच्छे। सम्ब-

नारायणी।

णामरूपवृत्त्या,तदाकारता-निरुक्तसम्बन्धेन सम्बद्धता। ननु यदि वृत्तिद्वारक एव सर्वत्र सम्बन्धस्तर्हि साक्षिमात्रभास्यानां सुखादीनां कथं भानं तत्राह—स्वच्छे त्विति। प्रतिबिम्बसम्बन्धयोग्ये त्वित्यर्थः। स्वतः-(२)

(१) +...+एतच्चिह्नद्वयमध्यगः पाठो घपुस्तके नास्ति।

(२) यद्यपि सर्वत्र 'वित्तिं विना' इति पाठमुपलभ्य तथैव रक्षितोऽस्माभिस्तथापि 'वृत्तिं विना' इत्येवार्थः कार्यः।

नप्रसङ्गः। ननु ब्रह्मणः कथमावरणम्? निरवद्यस्वप्रकाशत्वेन सर्वज्ञत्वात्। सत्यम्। स्वसम्बद्धसर्वभासकतया सर्वज्ञमपि अन्तःकरणावच्छिन्नजीवाज्ञानविषयतया आवृ-

न्यायरत्नावली।

न्धमात्रेणेति। मनसो ब्रह्मणि तादात्म्यं शुक्तिरूप्यादौ सामानाधिकरण्यम्। (१)ईशप्रसादधर्माधर्मादौ स्वावच्छिन्नत्वसम्बन्धो यत्र हि मनसि यागादिप्रयत्नः, तदवच्छेदेन ईश्वरोपाधिः प्रसादरूपेण परिणमते। तथा च नानाविधानां मनस्सम्बन्धानां विषयसाक्षात्कारघटकत्वेनाननुगमोऽपीति भावः। स्वं प्रत्यनावृतत्वेऽपि जीवं प्रत्यावृतं ब्रह्मेत्याशयेन समाधत्ते—सत्यमिति। अन्तःकरणावच्छिन्नेनेत्यनेन मनोऽवच्छिन्नचित् अविद्याप्रतिबिम्बो

नारायणी।

विर्त्ति विना, भानप्रसङ्गः-अपरोक्षभानप्रसङ्गः,स्वतःसम्बद्धानां धर्माधर्मादीनामिति शेषः। अयमत्र निष्कर्षः। घटाद्यवच्छिनान्तःकरणवृत्तौ चैतन्यस्य प्रतिबिम्बात् प्रतिबिम्बाश्रयवृत्त्यवच्छेदकत्वेन घटादौ सुखाद्यवच्छेदेन ब्रह्मचैतन्ये प्रतिबिम्बात्प्रतिबिम्बाश्रयब्रह्मचिदवच्छेदेन सुखादौ ब्रह्मचैतन्यावच्छेदेन ब्रह्माकारकवृत्तौ प्रतिबिम्बाश्रयवृत्त्यवच्छेदकत्वेन ब्रह्मणि प्रातिभासिकरजताद्यवच्छेदेन रजताकारायामविद्यावृत्तौ प्रतिबिम्बात् प्रतिबिम्बाश्रयवृत्त्यवच्छेदकत्वेन सम्बन्धेन प्रातिभासिके सम्बन्धत्वाज्जीवस्य घटसुखब्रह्मरजतादिभानं न धर्मादेः। धर्माद्यवच्छेदेन धर्मानुस्यूतचैतन्ये प्रतिबिम्बाभावात् कल्पनाहेतोरभावात् फलानुसारित्वात्कल्पनाया इति दिक्। ननु विषयावभासकमधिष्ठानं ब्रह्मचैतन्यमावृतमित्युक्तं तन्न युक्तम्, तस्यावृतत्वे जगदान्ध्यप्रसङ्गादिति भ्रान्तः शङ्कते—नन्विति। ब्रह्मणः-अधिष्ठानभूतचैतन्यस्य। निरवद्येति-अविद्यातीतेत्यर्थः। सर्वज्ञत्वात्-वशीकृतमायत्वेन सर्वविषयकेक्षणादिसमर्थत्वात्। अन्यथान्याविशिष्टत्वेन तस्य जगदध्यासाधिष्ठानत्वानुपपत्तेः, अविद्याविशिष्टस्याप्याध्यासिकत्वादिति भावः। स्वं प्रत्यावृतत्वमेव सार्वज्ञाद्यभावप्रयोजकं न तु जीवं प्रत्यपि, ब्रह्मणश्च जीवं प्रत्येवावृतत्वमित्यभिप्रेत्य समाधत्ते-सत्यमिति। स्वसम्बद्धसर्वावभासकतया-स्वाध्यस्तजग-

(१) ईशप्रसादादिरूपधर्मादाविति घपुस्तके।

तामिति व्यपदेशात् । तस्मात् ब्रह्म जगदुपादानमिति पक्षे चिदुपरागार्था आवरणभङ्गार्था च वृत्तिः । (१)+

न्यायरत्नावली ।

वा जीव इत्यादि सर्वपक्षेषु मनोवृत्तिसापेक्षं घटादिकिञ्चिज्ज्ञत्वमेव जीवस्येति सूचितम् । जीवाज्ञानविषयतया-जीवं प्रत्यावारकं यद-ज्ञानं तद्विषयतया । तस्मात्-ब्रह्मण्यावृतत्वसम्भवात् । ननु घटाद्य-वच्छिन्नमनोवृत्तेरुत्पत्तिक्षणे तत्र प्रतिबिम्बोत्पत्तिः तदुत्तरक्षणे वा ? । आद्ये प्रतिबिम्बघटितचिदुपरागस्य उक्तवृत्तिफलत्वासम्भ-वः । ब्रह्माकारवृत्तौ तदुत्पत्तिक्षणद्वितीयक्षण एव ब्रह्मण्यावरणो-च्छेदकत्वेन प्रतिबिम्बसम्पादकतया वैरूप्यापातश्च । द्वितीये मनस्सुखादावपि तदुत्पत्तिक्षणे प्रतिबिम्बाभावस्य तुल्यत्वेन भा-नाभावापत्तिः । न चेष्टापत्तिः । साक्षिमात्रवेद्यस्याभासमानतया विद्यमान(२)त्वास्वीकारात् । दर्पणाद्युपाधेः मुखादिसन्निधानस्य प्र-तिबिम्बोत्पत्तिहेतुत्वेन तदुत्पत्तिद्वितीयक्षण एव तत्स्वीकारेऽपि स-प्रतिबिम्बस्य मनसः परिणामे सुखादौ वृत्तिज्ञाने च सप्रतिबि-म्बत्वस्य स्वाभाविकत्वेन तदुत्पत्तिक्षण एव सम्भवादिति चेत् । अ-त्रोच्यते । आद्यपक्ष एव युक्तः। 'अज्ञातं चैतन्यं प्रमेयं ज्ञातं फलमि'-त्यनेन मूलेन हि चिदुपरागक्षणे फलत्वं तत्पूर्वं प्रमेयत्वं चोक्तम् । तत्र घटादौ वृत्तेरुपरागघटकत्वमेव उपरागफलकत्वम् । ब्रह्मणि तु आवरणभङ्गक्षणे प्रतिबिम्बोत्पादकत्वेन तद्घटितोपरागफलकत्वं मु-ख्यमेव । वृत्तेरावरणभङ्गार्थत्वं तु आवरणविरोधित्वं वृत्त्यधिकर-णक्षणत्वम् आवरणकालपूर्वत्वाभावव्याप्यमिति यावत् । वस्तुतस्तु

नारायणी ।

स्वप्रकाशकतया जीवाज्ञानविषयतया जीवं प्रत्येवावरकं'नास्ति न भाती'-तिव्यवहारजनकं यदज्ञानं तद्विषयतया । उपसंहरति-तस्मादिति । विचित्ति

(१) +... + अयं चिह्नितः पाठः कपुस्तके नास्ति ।

(२) विद्यमानभानत्वेति घपुस्तके ।

जीवोपादानत्वपक्षे तु आवरणभङ्गार्थैवेति+। नन्वेकेनै·

न्यायरत्नावली।

वृत्त्युत्पत्तिक्षणे (१)एवावरणनाशस्य युक्तत्वात् आवरणकालपूर्वत्वा-नधिकरणक्षणाव्यवहितोत्तरत्वमेवावरणविरोधित्वम्। एवं च ब्रह्मण्यपि वृत्तेरुपरागफलकत्वं न मुख्यम्। एवं चोपरागसम्पादक-सामग्रीविशिष्टमज्ञानशब्देनोच्यते। प्रमोत्पत्तियोग्यमेव प्रमेयशब्दे-नोच्यते। प्रमाविषयत्वं तु प्रमाकाल एव। यत्तु वृत्तेश्चिदुपरागा-र्थत्वपक्षेऽपि घटाद्यवच्छिन्ने ब्रह्मचैतन्ये अज्ञानाविषयत्वं स्वीक्रियते। तद्विशिष्टमज्ञातशब्देनोच्यते। तथा च (२)प्रमावृत्त्या ज्ञानविषयत्व-मेव प्रमेयत्वम्। एवं च घटाद्यवच्छिन्नचैतन्येऽपि आवरणोच्छेद-क्षणे प्रतिबिम्बोत्पादिका वृत्तिः। अन्यथा ब्रह्मचैतन्येऽपि आव-रणस्वीकारस्य वैयर्थ्यापत्तेः। अत एव स्वच्छेऽप्यावृते प्रमावृत्त्या तदाकारतेत्यत्र मूले ब्रह्मणीति विशेष्यवचनं नोक्तम्। तस्मात् सर्व-स्याः प्रमाणवृत्तेरावरणोच्छेदक्षणे प्रतिबिम्बोत्पादकत्वमित्यापा-ततः प्रतिभाति। तन्न रम्यम्। श्रवणादिपूर्वकालीनवृत्तिगतप्रति-बिम्बेन 'ब्रह्म साक्षात्करोमी' ति व्यवहाराभावेन ब्रह्मण्यावरण-स्वीकारेऽपि घटाद्यवच्छिन्नब्रह्मचैतन्ये तत्स्वीकारे मानाभावात्। अथानभ्यासदशोत्पन्ने घटाद्याकारवृत्तिज्ञाने सत्प्रतिबिम्बे सत्यपि 'घटं साक्षात्करोमी'त्यादेरभावः तत्रापि तत्स्वीकारे मानमिति चे-न्न। तावताप्यभ्यासदशोत्पन्नवृत्तेः पूर्वं तद्विषये आवरणे मानाभा-वेन सर्वस्या घटाकारवृत्तेर्घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठावरण(३)भङ्गा-

नारायणी।

विनाऽऽवृतानावृतादौ प्रमातृचैतन्यस्य भासकसम्बन्धाभावात् चिदुपरा-गार्था-प्रमातृचैतन्यसम्बन्धफलिका। आवरणेति-अज्ञाननाशफलिकेत्यर्थः।

(१)—क्षणे नाशस्य इति गपुस्तके खण्डितः पाठः।

(२) प्रमानिवर्त्याज्ञानविषयत्वमेव प्रमेयत्वमिति रम्यम्।

(३)—भङ्गाभावात् इति घपुस्तके।

व घटादिज्ञानेनावरणस्य भङ्गे सद्यो मोक्षप्रसङ्गः, अज्ञानस्यैकत्वात् । नानाज्ञानपक्षेऽप्येकस्य जीवस्यैकाज्ञानोपाधित्वात् । न । उत्तेजकेन मणेरिव वृत्त्या आवरणस्याभिभवाङ्गीकारात् । तथा च प्रमाणजन्यान्तःकरणवृत्त्यभावसहकृतमज्ञानं सति भात्यपि वस्तुनि नास्ति न भातीति प्रतीतिजननसमर्थमावरणमित्युच्यते । वृत्तौ जातायां तु अवच्छेदकाभावाद्विद्यमानमप्यविद्य-

न्यायरत्नावली ।

र्थत्वे मानाभावात् । तस्माच्छुक्तिरूप्याकाराया इव घटाद्याकाराया अपि अनभ्यासदशानुत्पन्नवृत्तेः प्रतिबिम्बाश्रयत्वेनैव चिदुपरागार्थकत्वम् । न तु चैतन्यावरणानिवृत्त्यधीनचैतन्यनिष्ठप्रतिबिम्बोत्पादनद्वारा गौरवादिति ध्येयम् । वृत्तेरावरणभङ्गमात्रत्वपक्षे तु प्रमोत्पत्तिक्षणे चैतन्यमा(१)वरणाविशिष्टम् आवरणोच्छेदविशिष्टं वा प्रमाविषयत्वादेव प्रमेयमित्युच्यते। तदुत्तरक्षणे तु फलीभूतस्य साक्षात्करोमीति व्यवहारस्य सम्भवात् फलमित्युच्यते इति दिक् । आवरणस्याज्ञानस्य । नानाज्ञानपक्षे—जीवभेदेनाज्ञानभेदपक्षे । अभिभवं प्रकटयति—तथा चेत्यादि । सहकृतं—विशिष्टम् । जननेति । 'अस्ति भाती'तिव्यवहाराभावप्रयोजकमित्यपि बोध्यम् । अवच्छेदकाभावात्—जनकताप्रतिबन्धकतयोरवच्छेदकस्य वृत्त्यभावस्याभावात(२) ।

नारायणी ।

आवरणस्य-अज्ञानस्य । नानाऽज्ञानपक्षे जीवभेदेनाज्ञानभेदपक्षे। उत्तेजकेन-प्रतिबन्धकशक्तिविघटकेन मणिमन्त्रमहौषध्यन्यतमेन। वृत्त्या-'अयं घट'इत्यादिविषयकज्ञानेन, आवरणस्य-'घटमहं न जानामी'त्याद्यज्ञानस्य, अभिभवेति-स्वकार्याक्षमत्वेत्यर्थ । एतदेव स्पष्टयति-तथाचेति । सहकृतं विशिष्टम् । जननेति । 'अस्ति भाती'तिव्यवहाराभावप्रयोजकमित्यपि बोध्यम् । अवच्छेदकाभावात्-जनकताप्रतिबन्धकतयोरवच्छेदस्य वृत्त्यभावस्या-

(१) चैतन्यं नावरणविशिष्टमिति गपुस्तके ।

(२) वृत्त्यभावादित्येव गपुस्तके विरुद्धश्चेदम् ।

मानसममेवेति न स्वकार्यसमर्थमज्ञानं तेनाभिभूतमि-

न्यायरत्नावली।

स्वकार्येति।'अस्ती'त्यादिव्यवहाराभावस्य क्षेमसाधारणकार्यत्वाश्रयस्य 'नास्ती'त्यादिव्यवहाररूपकार्यस्य जननसमर्थमित्यर्थः। तथा चोत्तेजकीभूतमन्त्रविशेषाद्यभावविशिष्टमणित्वेन दाहाभावं प्रति कारणता यथा, तथा वृत्त्यभावविशिष्टाज्ञानत्वेन 'अस्ती'त्यादिव्यवहाराभावं 'नास्ति न भाती'ति व्यवहारं च प्रति कारणता। तत्रापि प्रमाविषयत्वसमानाधिकरणमज्ञानविषयत्व'मस्ती'तिव्यवहाराभावे 'नास्ती'ति व्यवहारे च कारणम्। प्रमावच्छेदकत्वाभावसमानाधिकरणमज्ञानविषयत्वं 'भाती'ति व्यवहाराभावे 'न भाती'ति व्यवहारे च कारणम्। साक्षात्कारप्रमाया अवच्छेदकत्वस्य सद्विषये स्वीकारात् तस्यावच्छेदकत्वस्य घटादौ पूर्वं सत्त्वेन उक्ताकारोत्पत्तिः। ब्रह्मणि तु विश्वव्यापकत्वेनावच्छेदकत्वस्य सर्वदा भावेऽपि श्रवणाद्युत्तरसाक्षात्कारस्य सत्त्वे अज्ञानविषयत्वाभावसत्त्वात् विशेष्याभावादेव तादृशाज्ञानविषयत्वाभावरूपस्य (१)सत्त्वान्नोक्तकार्योत्पत्तिः। वस्तुतस्तु 'विदेहकैवल्यपर्यन्तमज्ञानविषयत्वं न निवर्तत' इति वक्ष्यमाणपक्षे श्रवणाद्युत्तरस्यात्मसाक्षात्कारस्य सत्त्वेन 'भाती'तिव्यवहारसिद्धये लौकिकविषयत्वमेवावच्छेदकस्थाने

नारायणी।

भावात्। न स्वकार्येति। यथोत्तेजकाभावविशिष्ट एव मणिर्दाहप्रतिबन्धकः प्रतिबन्धकतावच्छेदकश्चोत्तेजकाभाव इत्युत्तेजकसत्त्वप्रतिबन्धकतावच्छेदकस्याभावान्न प्रतिबन्धकः तथा चक्षुरादिप्रमाणजन्या या अन्तःकरणवृत्तिस्तदभावविशिष्टमेकज्ञानविरुद्धव्यवहारजनकमुचितव्यवहारप्रतिबन्धकं चेति कारणतावच्छेदकः प्रतिबन्धकतावच्छेकश्च वृत्त्यभाव इति वृत्तिसत्त्वे तदुभयरूपस्याभावात् न स्वकार्ये विरुद्धव्यवहारे उचितव्यवहारप्रतिबन्धे च शक्तमित्यर्थः। तत्सत्त्वेप्युत्तेजकेन मणेरिव तस्य शक्तेर्नाशादिति भावः। तेन-असमर्थहेतुना। एवं सति-घटादिज्ञानस्या-

(१) विशिष्टाभावस्य सत्त्वादित्यादिः घपुस्तके।

न्यायरत्नावली ।

वाच्यम् । लौकिकेन्द्रियसन्निकर्षादीनामिव विद्यमानसुखात्मादिविषयाणामपि तादात्म्येन प्रयोजकत्वे(१) तद्विषयकशाब्दधीवृत्तीनामपि तन्निष्ठलौकिकविषयताकत्वसिद्धिः । आस्तां वक्ष्यमाणाया अविद्यावृत्तेः विद्यमानसुखादिष्विव(२) *तत्रापि तत्काले 'भाती'त्यादिव्यवहारः । स्वीक्रियतां वा ब्रह्मणोऽपि शरीराद्यवच्छिन्नमवच्छेदकत्वम् । न हि शाखादेरवच्छेदकत्वमनवच्छिन्नम् , किन्तु अग्राद्यवयवावच्छिन्नम् । प्रयोजकं तु तत्र पूर्ववल्लौकिकसन्निकर्षादिकम्। घटादौ तूक्ताज्ञानविषयत्वाश्रयचित्तादात्म्यान्नोक्ताकारोत्पत्तिः । प्रमावच्छेदकेत्यत्र प्रमापदेनापरोक्षत्वेन प्रमात्वेन च निश्चीयमाना वृत्तिर्बोध्यते । तेनानभ्यासदशापन्ने घटादिज्ञाने आपातब्रह्मज्ञाने च सत्यपि तादृशाकारोत्पत्तिः । प्रमाविषयेत्यादौ तु प्रमात्वेन निश्चीयमाना वृत्तिर्बोध्या । तेनातादृशे परोक्षज्ञाने सत्यपि उक्ताकारोत्पत्तिः। अत्रेदं बोध्यम् । सुखादौ (३)वृत्त्यस्वीकारे तस्मिन् विद्यमानेऽपि 'नास्ति न भाती'ति व्यवहारापत्तिः । अज्ञानविषयचित्तादात्म्यस्य तत्र सत्त्वात्। न च सुखाद्यवच्छिन्नचिद्भिन्नमनवच्छिन्नं घटाद्यवच्छिन्नं च चैतन्यमज्ञानाविषय इति वाच्यम् । अज्ञानविषयत्वस्यावच्छिन्नानवच्छिन्न(४)निष्ठस्य एकत्वे, ब्रह्मणि साक्षात्कृते घटादौ 'नास्ती'त्यादिव्यवहारानुपपत्तेः । नानात्वेऽपि ब्रह्माज्ञाने नष्टे तद्विषयत्वसत्त्वानुपपत्त्या तद्दोषतादवस्थ्यात् । अनवच्छिन्नचिन्निष्ठविषयत्वं प्रथमेन तत्त्वज्ञानेन नश्यति, अज्ञानं तु चरमेणैवेति स्वीकारे जीवन्मुक्तस्याज्ञाननाशानुप(५)पत्तिः । अथ

(१) प्रयोजकत्वात्तद्विषयकशाब्दादिवृत्तीनामपीत्यादिः घपुस्तके पाठः ।

(२) अयमत्राधिकः पाठः घपुस्तके ।--सुखादिष्विव* श्रवणाद्युत्तरमनोवृत्तिविषयताकालावच्छेदेनात्मन्यपि विषयता, तथाच तेष्विव*तत्रापि इत्यादिः समोऽग्रे ।

(३) वृत्त्यस्वीकारादिति घपुस्तके । (४)—नवच्छिन्नचिन्निष्ठस्येत्यादिः घपुस्तके ।

(५)—नाशानुभवानुपपत्तिरिति घपुस्तके ।

त्युच्यते । नन्वेवं सति ब्रह्मज्ञानेनाप्यविद्याया अनिवृ-

न्यायरत्नावली ।

'ब्रह्माज्ञानं नष्ट'मित्यनुभवस्य (१)किमुक्तकल्पनागौरवेण । तस्मात् ब्रह्मसाक्षात्कारोत्तरं घटादौ 'नास्ती'तिव्यहारानुपपत्तिवारणाय विदेहकैवल्यपर्यन्तमज्ञानविषयत्वं न निवर्तते । एकाज्ञानपक्ष इत्येव वाच्यम् । तथा च घटाद्यवच्छिन्नचैतन्येऽप्यज्ञानविषयत्वस्वीकारे मानाभावात् शुद्धचिन्निष्ठेनैवाज्ञानविषयत्वेन 'घटादिकं नास्ती'त्यादिव्यवहारादिकम् । तथा च सुखादावपि तदापत्तिर्दुर्वारा । तस्मात् घटाद्याकारवृत्तीनामिव मनस्त्वस्य मनोधर्मत्वस्य च उत्तेजकत्वं वा मनस्सुखादिषु विद्यमानेष्वेकैवा(२)विद्यावृत्तिर्वा स्वीक्रियते । सृष्ट्यारम्भकालोत्पन्नाविद्यावृत्तौ मनस्सुखादीनामवच्छिन्नत्वसम्बन्धेन विषयत्वसम्बन्धेन चोत्पत्तिः स्वीक्रियते । तथा च धीत्वज्ञा-(३)नरूपेण वृत्तित्वेनोत्तेजकत्वस्वीकारान्नानुपपत्तिः । अत एव शुक्तिरूप्यादेरपि तद्वृत्तिविषयत्वमेव स्वीक्रियते, न तु वृत्त्यन्तरविषयत्वम् । प्रतिभासव्याप्यस्थितिकत्वरूपेण विषयतासम्बन्धेनोत्पत्तिं प्रति तद्वृत्तिव्यक्तेर्हेतुत्वस्वीकारात् । एवं च तद्वृत्तेः सृष्टिकाले नाशाभावेऽपि प्रतिभासव्याप्यसुखशुक्तिरूप्यादेः स्मृतौ तदवच्छिन्नचिन्नाशस्यैव संस्कारविधया हेतुत्वमिति दिक् । एवं सति—घटाद्याकारवृत्तेरज्ञानानुच्छेदकत्वे सति । अनिवृत्तेरिति । 'या या प्रमा सा सा स्वसमान-

नारायणी ।

ज्ञानानाशकत्वे सति । अनिवृत्तेः-अनाशात् । अनिर्मोक्षप्रसङ्गः-तन्नाशे स्वरूपप्राप्तिलक्षणमोक्षस्यासम्भवप्रसङ्गः । तयोर्नाश्यनाशकभावदर्शनं

(१)—नानुपपत्तिः,ब्रह्मनिष्ठविषयताया नष्टत्वेन तद्विशिष्टरूपेणाज्ञानस्य नष्टत्वादिति चेत्तर्हि वृत्त्यभावविशिष्टस्याज्ञानविषयत्वस्यात्यन्ताभाव एव उक्तानुभवविषयोस्तु किमुक्तकल्पनागौरवेणेति घपुस्तके पाठः । युक्तश्चायम् ।

(२)—एकैकाविद्येति गपुस्तके । (३) धीत्वजातिरूपेणेति घपुस्तके ।

त्तेरनिर्मोक्षप्रसङ्गः। न। तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थज्ञानादविद्यानिवृत्त्यभ्युपगमात्। स्वविषयविषयकप्रमात्वेनैव अविद्यानिवर्तकत्वाभ्युपगमात्। महावाक्यार्थज्ञानस्यैव अबा-

न्यायरत्नावली।

विषयकाज्ञानतत्प्रयुक्तोच्छेदिके'ति व्याप्तिग्रहात् ब्रह्मप्रमाया अज्ञानोच्छेदकत्वं स्वीक्रियते। उक्तव्याप्तिश्च घटादिप्रमायां साध्यसाधनयोः सहचारदर्शनेन ग्राह्या। तच्च न सम्भवतीति भावः। अविद्यानिवृत्त्यभ्युपगमात्—नानाविद्योच्छेदाभ्युपगमात्। अयं च निवर्तकत्वादित्यत्र हेतुः। स्वविषयविषयकप्रमात्वेनैवाविद्यानिवर्तकत्वादिति। 'या अज्ञानविषयविषयिका प्रमा सा तदज्ञानतत्प्रयुक्तोच्छेदिके'ति व्याप्तेः पुरुषान्तरीयब्रह्मज्ञानेषु(१) सहचारदर्शनेन ग्रहादज्ञानसमानविषयकप्रमात्वव्यापकमज्ञानतत्प्रयुक्तोच्छेदकत्वमित्यस्य नियमस्य सम्भवादित्यर्थः। प्रमात्वम् 'असम्भावनादिप्रयुक्ताप्रामाण्यबुद्ध्यविषयत्वे सत्यबाधितविषयकत्वम्'। तदनुक्तावापातब्रह्मज्ञाने घटादिज्ञाने च व्यभिचारः, अतो विशिष्टरूपेण व्याप्यता। प्रमात्वात्–उक्तविशिष्टप्रमात्वात्। तथा चाज्ञानसमानविषयकत्वं ब्रह्मज्ञानस्यैवेति तत्रैव सहचारस्य वाच्यतया घटादिज्ञाने तदभावेऽपि न क्षतिरिति भावः। ननु तर्हि घटादिज्ञानस्य प्रमात्वव्यव-

नारायणी।

विना ब्रह्मज्ञानादज्ञाननिवृत्त्या मुक्तिरिति निर्णयस्यासम्भवादिति भावः। नानाऽज्ञानवादिवाचस्पतिमिश्रमते समाधानमाह—तत्त्वमिति। अविद्येति। नानाऽविद्याच्छेदाभ्युपगमात्। तथाच पुरुषान्तरे शुकादौ च जीवन्मुक्ततयोर्निश्चनाशकभावग्रहान्नानिर्णय इति भावः। ननु घटादिज्ञानान्नाज्ञाननिवृत्तिः किन्तु तत्त्वमस्यादिवाक्यादेवेत्यत्र किं विनिगमकम्? तत्राह–स्वविषयेति। अज्ञानविषयविषयकप्रमात्वेनेत्यर्थः। प्रमात्वं चाबाधितविषयत्वं तच्च तत्त्वमस्यादिजन्यज्ञानस्यैव नान्यस्येत्याह–महावाक्येति। तत्त्वम्पदार्थाभेदज्ञानस्येत्यर्थः। अबाधितेति–कालत्रयाबाधितविषयतया प्रमा-

(१)–ज्ञानेष्युक्तसहचारेति घपुस्तके।

धितविषयतया प्रमात्वात्। प्रत्यक्षादीनां तु बाधितविषयतया भ्रमत्वेऽपि व्यवहारसामर्थ्येन प्रामाण्याभिमानात्। ज्ञानादज्ञाननिवृत्तेरन्यत्रादर्शनश्चाकिञ्चित्करम्, स्वानुभवसिद्धत्वादन्यथानुपपत्तेश्च (१)सर्वतो बलवत्त्वात्। (२) तदुक्तम्—

अन्यथानुपपत्तिश्चेदस्ति वस्तुप्रसाधिका।
पिनष्ट्यदृष्टिवैमत्यं सैव सर्वबलाधिका॥

न्यायरत्नावली।

हारः कथम्? तत्राह—प्रत्यक्षेत्यादि। नन्वेकजीववादे कथमुक्तव्याप्तिग्रहः तत्राह—ज्ञानादिति। अन्यथानुपपत्तेः—'विद्वान्नामरूपाद्विमुक्त' इत्यादिश्रुत्यन्यथानुपपत्तेः। अदृष्टिवैमत्यम्—अन्य-

नारायणी।

त्वात् तथा चानधिगताबाधितविषयकं यज्ज्ञानं तदेवाज्ञाननाशकम्, तच्च तत्त्वमस्यादिजन्यमेव, शुद्धचित एवानधिगताबाधितरूपत्वात्, अतो बाधितविषयात् घटादिज्ञानात्तदनिवृत्तावपि न हानिरिति भावः। ननु यदि तत्त्वमस्यादिजन्यं ज्ञानमेव प्रमा तदा कथं शुक्तिज्ञानं प्रमा रजतज्ञानं भ्रम इति व्यवहारस्तत्राह—प्रत्यक्षेति। शुक्त्यादिप्रत्यक्षप्रतीतीनां बाधितविषयतया—अदृष्टदृष्टनष्टस्वभावत्वेन वर्तमानकालेऽपि वस्तुतो बाधितवस्तुग्राहित्वेन, भ्रमत्वेपि—शुक्तिरजतादिज्ञानवद् भ्रमव्यक्तित्वेऽपि, व्यवहारसामर्थ्येन—व्यवहारकालाबाधितार्थविषयकत्वेन, प्रामाण्याभिमानात्—प्रमात्वव्यवहारात्। एकजीववादे समाधानमाह—ज्ञानादिति। स्वानुभवेति। शास्त्रप्रमाणैकसमधिगम्यफलस्य भावितदनुभववेद्यत्वादित्यर्थः। यद्यन्यत्रादर्शनमेव तर्ह्यस्मदादीनां का प्रत्याशा तत्राह—अन्यथेति। मुक्त्यर्थं प्रवृत्तस्य मुक्तिं विना शास्त्रप्रामाण्याद्यनुपपत्तेरित्यर्थः। अपसिद्धान्तशङ्कां निराकरोति—तदुक्तमिति। चेत्—यदि अन्यथानुपपत्तिः—'तरति शोकमात्मवि'दित्यादिश्रुतेर्मुक्तिं विना प्रामाण्यानुपपत्तिः वस्तुप्रसाधिका ज्ञानाज्ञानयोर्नाश्यनाशकभावज्ञापिकाऽस्ति तदा सैव अन्यथानुपपत्तिरेव अदृष्टिवैमत्यं दृष्टान्तादर्शनेन विवादं पिनष्टि निवारयति, तत्र हेतुगर्भं विशेषणं—सर्वेति।

(१) सर्वतः प्रत्यक्षादिसर्वप्रमाणेभ्यो बलवत्त्वात् इतरप्रमाणविरोधोपमर्दनपूर्वकं स्वार्थसाधकत्वादित्यर्थः। (२) तदुक्तं खण्डनकारैरिति शेषः।

इति। अथवा मूलाज्ञानस्यैवावस्थाज्ञानानि घटादिविषयावरणानि। अज्ञानस्य ज्ञानप्रागभावस्थानीयत्वेन यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीत्यभ्युपगमात् एकेन ज्ञानेन एकाज्ञानस्यैव नाशात् घटादिज्ञानेन आवरणनाशे न काचिदनुपपत्तिः। नन्वनुमानादिभिरावरणं निवर्तते न वा? । आद्ये साक्षात्कारिभ्रमस्यापि शङ्खपीतत्वादेर्दिङ्मोहादेश्च श्वेतत्वाद्यनुमानादिना निवृत्तिप्रसङ्गः। अधिष्ठानाज्ञानोपादानकत्वे भ्रमस्य तन्निवृत्तौ

न्यायरत्नावली।

त्रादर्शनेन विवादम्। विषयावरणानि-विषयावच्छिन्नचिदावरणानि। एकाज्ञानस्येति। (१)तज्ज्ञानाव्यवहितपूर्वतज्ज्ञानविषयावारकं यदज्ञानं तस्यैव तज्ज्ञानमुच्छेदकम्। सर्वश्चाज्ञानं न सर्वदा आवृणोतीति भावः। अनुमानादिभिः-अनुमित्यादिभिः। तन्निवृत्तौ-अधिष्ठानाज्ञा-

नारायणी।

सर्वप्रमाणाधिकेत्यर्थः। प्रमाणान्तरविरोधोपमर्दनेन स्वार्थसाधिकेति यावत्। मुक्तिप्रतिपादकशास्त्रान्यथानुपपत्त्यैव ज्ञानाज्ञानयोर्नाश्यनाशकभावसिद्धिरिति संक्षेपः। सर्वेषामेकमेवाज्ञानमिति पक्षे जीवभेदेनाज्ञानभेदपक्षेऽपि बाह्यविषयज्ञानमज्ञानस्याभिभावकमात्रं न तु नाशकं सकलविषयकाज्ञानस्यैकत्वादेकज्ञानेन तन्नाशे सर्वाज्ञाननाशापत्तेरित्युक्तम्, तन्न सम्यक्। मूलाज्ञानैकत्वेऽपि तूलाज्ञानानां भेदेन तत्रापि नाश्यनाशकभावोपपत्तेः। न च गौरवम्, प्रागभावस्थानीयत्वेन गौरवाभावादित्यभिप्रेत्याह—अथवेति। अवस्थाज्ञानानि-शुक्तिरूप्याज्ञानानि, विषयावरणानि-विषयावच्छिन्नचिदावरणानि। गौरवं निराकरोति-अज्ञानस्येति। स्थानीयत्वेनेति। 'घटं न जानामी'त्यादिप्रतीतेरुक्तरीत्या प्रागभावेनानिर्वाहादज्ञानमेवावश्यकमिति प्रागभावाङ्गीकार एव गौरवादनुचित इति ज्ञापितम्। एकाज्ञानस्येति। यज्ज्ञानाव्यवहितपूर्वं यज्ज्ञानविषयावरकं यदज्ञानं तस्यव ज्ञानमुच्छेदकं सर्वं चाज्ञानं न सर्वदाऽऽवृणोतीति भावः। अनुमानादिभिः—अनुमित्यादिभिः। साक्षात्कारीति—अपरोक्षेत्यर्थः। पीत-

(१) तज्ज्ञानाव्यवहितपूर्वतज्ज्ञानेत्यादिः घपुस्तके।

निवृत्तेः । यौक्तिकज्ञानेन च ब्रह्मणः अविद्यानिवृत्तेः साक्षात्कारार्थं श्रवणमननापेक्षा न स्यात्। द्वितीये च वह्न्यादिव्यवहारो न स्यात्, प्रतिबन्धकस्य विद्यमानत्वात्। उच्यते। द्विविधमावरणम्। एकमसत्त्वापादकमन्तःकरणावच्छिन्नसाक्षिनिष्ठम्। अन्यदभानापादकं विषयावच्छिन्नब्रह्मचैतन्यनिष्ठम्। 'घट-

न्यायरत्नावली।

ननिवृत्तौ, यौक्तिकज्ञानेन—वाचस्पत्यभ्युपगतेन 'अहं ब्रह्मास्मी'ति परोक्षज्ञानेन। एतेन विवरणादिमते श्रवणादिपूर्वज्ञानस्यापि अपरोक्षत्वादिदमयुक्तमित्यपास्तम्। अथवा यौक्तिकेति अपरोक्षत्वेनाज्ञायमानेत्यर्थः। आत्मविषयकशाब्दज्ञानस्य अपरोक्षस्यापि अपरोक्षत्वेनाज्ञायमानस्य नापरोक्षाध्यासमूलाज्ञानोच्छेदकत्वमिति भावः। वह्न्यादिव्यवहारः—'वह्निरस्ती'ति व्यवहारः। द्विविधं—परस्परासङ्कीर्णधर्मद्वयविशिष्टम्। असत्त्वापादकं—नास्तीति धीप्रयोजकतावच्छेदकाखण्डधर्मवत्। अन्तःकरणावच्छिन्नसाक्षिनिष्ठं—मनोवच्छिन्ना साक्षिनिष्ठाऽऽश्रयता यस्य तादृशम्। विषयावच्छिन्नब्रह्मचैतन्यनिष्ठं—घटाद्यवच्छिन्ना ब्रह्मनिष्ठाऽऽश्रयता यस्य ता-

नारायणी।

त्वादेरित्यादिना दिङ्मोहादिपरिग्रहः। श्वेतत्वाद्यनुमानादिना—'अयं श्वेतः शङ्खत्वात् शङ्खान्तरवदि'त्यनुमानादिना। आदिपदादाप्तवाक्यजशाब्दबोधपरिग्रहः। नन्वपरोक्षप्रमां विना कथमपरोक्षभ्रमनिवृत्तिः स्यात्तत्राह— अधिष्ठानेति। तन्निवृत्तौ—(अधिष्ठानाज्ञाननिवृत्तौ)। कारणनाशे कार्यनाशावश्यंभावादिति भावः। यौक्तिकेति। द्वैतनिरासपूर्वकाद्वैतसाधकहेतुजन्यज्ञानेन, साक्षात्कारार्थम्—ऋतंभरा प्रज्ञेत्युक्तापरोक्षप्रमार्थम्। श्रवणेति। आचार्यवक्तृकश्रुतिकरणकश्रवणतत्पूर्वकमनननिदिध्यासनानामपेक्षा न स्यात् तर्कमात्रेणैव फलसद्भावसम्भवादिति भावः। वह्न्यादीति। 'वह्निरस्ती'ति व्यवहारः। प्रतिबन्धकस्य व्यवहारकारणीभूताभावप्रतियोगिनोऽज्ञानस्य विद्यमानत्वात् अज्ञानस्य यौक्तिकज्ञानादनिवृत्तेरिति भावः। द्विविधं—परस्परासङ्कीर्णधर्मद्वयविशिष्टम्। असत्त्वापादकं-'ना-

महं न जानामी'त्युभयावच्छेदानुभवात् । तत्राद्यं परोक्षापरोक्षसाधारणप्रमाणज्ञानमात्रेण निवर्तते । अनुमितेऽपि वह्न्यादौ नास्तीति प्रतीत्यनुदयात् । द्वितीयं तु साक्षात्कारेणैव निवर्तते । यदाश्रयं यदाकारं ज्ञानं तदाश्रयं तदाकारमज्ञानं नाशयतीति नियमात् ।

न्यायरत्नावली ।

दृशम् । उभयावच्छेदानुभवात्-उभययोरेकैकावच्छिन्नाश्रयताकाज्ञानयोरुक्ताश्रयत्वानुभवात् । एकाज्ञानपक्षे अज्ञानस्य घटावच्छिन्ननानाविषयताकत्ववत् मनोघटाद्यवच्छिन्नाश्रयताकत्वं सम्भवत्येवेति तत्पक्षेऽपि 'घटं न जानामी'त्युभयावच्छेदेनानुभवोपपत्तिः । यदि च तत्पक्षे घटाद्यवच्छिन्नान्यज्ञानाविषयत्वानि न स्वीक्रियन्ते, 'घटज्ञानेन घटाज्ञानं नष्ट'मित्यादिप्रत्ययस्य उक्तविषयतानाशविषयकत्वानुरोधात् तत्स्वीकारः । तादृशप्रत्ययस्य नोक्तनाशो विषयः । अनन्तानामवच्छिन्नविषयतानां कल्पने गौरवात्, किन्तु दृश्यविषयत्वसमानाधिकरणं यत् घटाद्यात्मकाचिद्वृत्त्यज्ञानविषयत्वं तदत्यन्ताभावो विषय इति तत्स्वीकारो व्यर्थ इति चिन्त्यते, तदा पल्लवाज्ञानानामेवोक्ताश्रयताकत्वम् । एकाज्ञानपक्षे 'घटं न जानामी'ति धीस्तु घटात्मकचिद्वृत्तिदृश्यविषयत्वसमानाधिकरणविषयताकाज्ञानवानहमित्याकारेति भावः । यदाकारं—यादृशविषयताकम्, तन्निष्ठं—तन्मात्रनिष्ठमेव । आलोकतमसोस्तथानियमस्य दृष्टत्वात् ज्ञानाज्ञानयोरपि स कल्प्यते । आ-

नारायणी ।

स्ती'तिधीप्रयोजकतावच्छेदकाखण्डधर्मवत् । अन्तरिति-मनोवच्छिन्न साक्षिणि निष्ठा वृत्तिर्यस्य तादृशम् । अभानापादकं—'न भाती'ति व्यवहारप्रयोजकतावच्छेदकाखण्डधर्मवत् । विषयेति । विषयानुस्यूतब्रह्मचैतन्ये निष्ठा वृत्तिर्यस्य तादृशम् । उभयेति । मनोघटाद्यवच्छेदेन चैतन्येऽज्ञानानुभवात् । प्रकृतभेदकल्पनाफलमाह—तत्रेति । यदाश्रयं—यदाश्रितम् । (यदाकारं—यद्विषयकम) । तदाकारं—तद्विषयम् । नियमात्—प्रका-

परोक्षज्ञानस्य इन्द्रियविषयसन्निकर्षाभावेन ज्ञानस्यान्तःकरणमात्राश्रयत्वात् । अपरोक्षज्ञानस्यैव (१)विषयव्यापारजन्यत्वेन विषयान्तःकरणोभयजन्यत्वेन तदुभयनिष्ठत्वात् । तदुक्तम्--

परोक्षज्ञानतो नश्येदसत्त्वावृत्तिहेतुता ।
अपरोक्षधिया नश्येदभानावृत्तिहेतुता ॥

इति । तेनानुमानादावसत्त्वावरणनाशात् तत्र तद्व्यवहारः । अभानावरणनिवृत्त्या च सोपाधिकसाक्षा-

न्यायरत्नावली ।

लोकमनोवृत्त्यो'रस्ति भाती'तिव्यवहारप्रयोजकत्वरूपस्य प्रकाशत्वरूपस्य तमोऽज्ञानयो'र्नास्ति न भाती'ति व्यवहारप्रयोजकत्वस्य चाविशिष्टत्वात् । असत्त्वावृत्तिहेतुता-'नास्ती'ति व्यवहारप्रयोजिकाऽविद्या । अभानावृत्तिहेतुता-'न भाती'ति व्यवहारप्रयोजिकाविद्या । असत्त्वरूपायां सत्त्वविरोधिन्यां नास्तीति व्यवहाररूपायां वा वृत्तौ हेतुता यस्या इत्यादि व्युत्पत्तेः । व्यवहारः--'अस्ती'ति व्यवहारः । अत्रेदं विभावनीयम् । असत्त्वापादकाज्ञानस्यापि विषयावच्छिन्नचिदाश्रयताकत्वम् । अन्यथा 'ह्रदो वह्निमानि'ति ज्ञानस्य ह्रदविशेष्यतावच्छिन्नवह्निप्रकारताकत्वं न स्यात् । ह्रदवह्निभ्यां येचितस्तादात्म्ये तयोर्विशेष्यताप्रकारतारूपयोर्मिथो ऽवच्छेद्यावच्छे

नारायणी ।

शतमसोस्तथादर्शनादिति भावः । प्रकृतनियमोक्तेः फलमाह—परोक्षेति । ज्ञानाकारकज्ञानस्येत्यर्थः । अन्तरिति—अन्तःकरणमात्राश्रितत्वात् । तथाच विषयावच्छिन्नाभावान्न विषयावच्छिन्नज्ञाननाशे समर्थमिति भावः । अपरोक्षस्य—ज्ञानाकरणकज्ञानस्य । तथा चेदमेव समानाश्रयविषयकं विषयताज्ञाननाशे समर्थमिति भावः । असत्त्वेति । नास्तीति व्यवहारप्रयोजिकाऽविद्या, स्वार्थे भावप्रत्ययः । अभानेति-न भातीति व्यवहारप्रयोजिकाऽविद्या, तेन-द्विविधहेतुमद्भावेन, तद्व्यवहारः-विष-

(१) विषयेन्द्रियसन्निकर्षात्मकव्यापारजन्यत्वेनेति कपुस्तके ।

दकभावस्य वाच्यत्वेन हृदचित्तादात्म्यावच्छेदेन चिति तादात्म्ये वह्न्युत्पत्तेरावश्यकत्वात् । न च 'तद्धटध्वंसवानयमि'त्यादौ भिन्नकालीनानां तद्धटध्वंसयोः चित्तादात्म्यानां 'तद्धटात्यन्ताभाववदिदमि'त्यादौ तद्धट(१)तदत्यन्ताभावयोः चित्तादात्म्यानां भिन्नदेशावच्छिन्नानां चावच्छेद्यावच्छेदकभाववत् मनोवच्छिन्नवह्निचित्तादात्म्यस्य हृदचित्तादात्म्येन भिन्नदेशेनावच्छिन्नत्वमिति वाच्यम् । यद्यप्यनिर्वचनीयवादे प्रतीत्यनुरोधे क्वचित्किञ्चिदनुपपन्नं स्वीक्रियते, तार्किकादिमते भिन्नकालीनयोर्विषयविषयित्वादिवत्, घटाभावादौ तदाधारत्वादिवच्च, तथाऽपि तत्परिहारसम्भवे तत्स्वीकारस्यान्याय्यत्वात् । अत एव परोक्षभ्रमस्यान्यथाख्यातित्ववादिनो निरस्ताः । विशेष्यतावच्छिन्नप्रकारत्वासम्भवात् । तस्माद्द्विविधमप्यज्ञानमुभयावच्छिन्नाश्रयताकमेव वा । (२)यथा हि—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला ।

इत्यनेन मूलाज्ञानाश्रयतानवच्छिन्नत्वेनोक्ता तथापि 'ब्रह्म न जानामी'त्यत्र प्रमातृविशेषनिरूपितत्वेनाज्ञानं भाति, तथा प्रमातृविशेषानाश्रितमप्यज्ञानं प्रमातृविशेषनिरूपितत्वेन 'घटमहं न जानामी'त्यादौ भाति, तत्पुरुषीयब्रह्मप्रमया पुरुषान्तरीयब्रह्माज्ञानानिवृत्त्या प्रमातृनिरूपितत्वसम्बन्धस्य मूलाज्ञाने क्लृप्तत्वेन पल्लवाज्ञानेऽपि तस्यैव व्यवस्थापकतया कल्पनाया युक्तत्वात् । तथा चासत्त्वापादकाज्ञाननिवर्तकत्वं प्रमामात्रस्य तत्समाननविषयत्वेनैव अभानापादकाज्ञाननिवर्तकं तदवच्छेदकावच्छिन्नप्रमात्वेनेति । तादृशप्रमाया विषयावच्छिन्नत्वं विषयेन्द्रियसन्निकर्षाद्यधीनं स्वीक्रियते । तदवच्छेदकावच्छिन्नत्वं प्रमायां स्वानव-

(१) तद्धटिततदत्यन्ताभावेति घपुस्तके ।
(२) मेव वा तथाहि इत्यादि घपुस्तके ।

त्काराभ्रमनिवृत्तिरिति । तस्मान्निर्धर्मकस्याप्यात्मनोऽवि-
द्ययान्तःकरणतादात्म्याध्यासात् तद्धर्मकर्तृत्वभोक्तृ-

न्यायरत्नावली ।

च्छेदकावच्छिन्नाज्ञानकत्वम् । तेन ब्रह्मज्ञाने स्वावच्छेदकाभावेऽपि न क्षतिः । न'न्वास्ति भाती'ति व्यवहारप्रतिबन्धकत्वस्य 'नास्ति न भाती'ति व्यवहारजनकत्वस्य तदाश्रयानन्ताज्ञानानां कल्पनामपेक्ष्य सुखादिसाधारण्येन (१)प्रमापरोक्ष एवा'स्ति भाती'-तिव्यवहारनियामकत्वम् । तद्विषयत्वयोरास्तित्वभानत्वरूपत्वादिति चेन्न । असत्त्वापादकाज्ञानशून्या चिदस्तित्वम् । अभानापादकाज्ञानशून्या चिद्भानम् । असत्त्वाभाने–तादृशाज्ञानाभ्यां विशिष्टचितौ, तथा च प्रमाकाले विषयसत्त्वात् 'अस्ति भाती'ति व्यवहारेऽपि तदन्यकाले विषयासत्त्वादेव तदभावः, विषयासत्त्वादेव च 'नास्ति न भाती'ति व्यवहार इति मन्मते नाज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वं जनकत्वं च स्वीक्रियते । व्यवहाराविधया व्यवहारे परं भानाभानसत्त्वासत्त्वानां प्रयोजकत्वम् । तच्च परैरपि वाच्यम् । अज्ञानाश्रयतायां देशेनेव कालेनाप्यवच्छिन्नत्वात् 'इदमिदानीमिह नास्ती'त्यादिधीः(२)। 'इदमिदानीमिहास्ती'त्यत्राप्यस्तित्वघट(३)-ककालज्ञाने कालाद्यवच्छिन्नाश्रयताकत्वधीः। अत्यन्ताभावस्येवाज्ञानस्याप्यनादेरप्याश्रयतायाः कालाद्यवच्छिन्नत्वमिति दिक् । त-

नारायणी ।

यव्यवहारः, तस्मादध्यासे दोषाभावात् । उपपद्यते–धर्मितादात्म्याध्यासस्य धर्मसंसर्गाध्यासे कारणत्वादिति भावः । नन्वन्यगतानामेव कर्तृत्वादीनामात्मवृत्तितया भानं किं वाऽऽत्मन्युत्पद्यमानानामपि ? आद्ये अन्यथाख्यातिप्रसङ्गः, द्वितीये अन्तःकरणधर्माणामवभास इति सिद्धा-

---

(१) प्रमात्वपरोक्षप्रमयोरेवास्तीत्यादिः घपुस्तके ।

(२) सा चावच्छेदकतापरम्परया इदमादिरूपशुक्त्यादिनिष्ठा या चिद्वृत्त्याश्रयता तदवच्छेदकतेति यावत् । इत्यधिकः पाठो घपुस्तके ।

(३)—घटके अज्ञाने तदभावे वा कालाद्यवच्छिन्नेत्यादिः घपुस्तके ।

त्वाद्यध्यास उपपद्यते। ननु त्वन्मतेऽनिर्वचनीयख्या-त्यभ्युपगमात् ये कर्तृत्वादयोऽन्तःकरणधर्मा आत्म-न्यध्यस्यन्ते ते अनिर्वचनीयास्तत्रोत्पद्यन्त इति वा-च्यम्। तथा च व्यावहारिकप्रातीतिकभेदेन कर्तृत्व-भोक्तृत्वादीनां द्वैधाऽवभासः स्यात्। न स्यात्। तादा-

न्यायरत्नावली।

त्म्यात—अध्यासे दोषासम्भवात्। व्यावहारिकेत्यादि। व्या-वहारिककर्तृत्वादेः मनसि स्वाभाविकधर्मत्वात् मनोनिष्ठं तद्व्याव-हारिकम् आत्मनि तस्यास्वाभाविकधर्मत्वात् गगननैल्यादिवत् प्रा-तीतिकमित्यर्थः। यद्यपि मनोनिष्ठस्यैव कर्तृत्वादेरात्मनि संसर्ग-मात्रमध्यस्यते न तु स्वरूपान्तरं तथाप्यात्ममनस्संसृष्टाभ्यामेक-स्यापि कर्तृत्वादेर्भेदस्वीकार इति मते समाधत्ते—न स्यादिति। ता-दात्म्याभिमानेन—आत्ममनसोर्भेदाग्रहेण। अविवेकात्—आत्मम-नोधर्मयोर्भेदाग्रहात्। उक्तरूपाभ्यामेकमेव कर्तृत्वादिकं भाति, न तु भिन्ने रूपे स्वीक्रियेते इति मतमाश्रित्य समाधत्ते—सकले-त्यादि। वस्तुतः प्रातीतिकस्यात्मनि कर्तृत्वादिसंसर्गस्योत्पत्त्यस्वी-कारान्न तद्विशिष्टरूपेण भेदप्रसक्तिः। परन्तु यदेव मनसस्तादात्म्यम् (आत्मनि) स्वीक्रियते तदेव कर्तृत्वादेरप्यात्मनि धर्मितानियाम-

नारायणी।

न्तो भज्येत, अन्तःकरणे इव स्वास्मन्नपि उत्पत्तिस्वीकारात्। न च सम्बन्धकृतो विशेषः, समवायनिरासेन सर्वत्राविद्यकतादात्म्यस्यैव सम्बन्धत्वाङ्गीकारात्। व्यावहारिकप्रातीतिकभेदेन तयोर्विशेषोपपादने तु द्विविधयोस्तयोर्भाने़ऽपि भेदः स्यादित्याशयेनाशङ्कते—नन्विति। अनिर्वचनीयेति। अन्यथाऽन्यथाख्यात्यापत्तेरिति भावः। व्यावहारिकेति। स्वाभाविकत्वेन मनोनिष्ठं व्यावहारिकम्, अस्वाभाविकत्वेनात्मनिष्ठं तद्गगननैल्यादिवत्प्रातीतिकमिति तयोर्जपाकुसुमारुण्यस्फटिकारुण्ययो-रिव पृथगवभासः स्यादित्यर्थः। सोपाधिकाध्यासे तथा, न चायं सो-पाधिकाध्यासः, अधिष्ठानाध्यस्तोपाधिकत्वादित्यभिप्रेत्य समाधत्ते—न स्यादिति। तादात्म्येति—आत्ममनसोरभेदाध्यासेन। अविवेकात्—

स्याभिमानेनाविवेकात् । सकलधर्मविशिष्टस्यैवान्तःकरणस्यात्मन्यध्यस्तत्वेन द्वयाभावाद्वा । तस्मादेकस्यात्मन उपाधिभेदेन प्रमात्रादिव्यवस्थोपपत्तेर्न सौगतमतापत्तिर्न वा विरोधः । अन्या अपि व्यवस्थाः स्पष्टतरमुपरिष्टादुपपादयिष्यन्ते । तस्मात् ज्ञानरूपस्यात्मनः सुषुप्तावव्यभिचारित्वाद्देहेन्द्रियादीनां च व्यभिचारित्वात् दृश्यत्वाच्च तत्र तत्रात्मबुद्धिस्तेषां तेषां वादिनां भ्रान्तिरित्यौपनिषदं मतं प्रामाणिकमिति सिद्धम् ॥ १ ॥

न्यायरत्नावली ।

कः सम्बन्धः । धर्मधर्मिणोरपि तादात्म्यस्यैकस्यैव स्वीकारात् । अथवा कर्तृत्वादेर्यदेव मनसि आधारत्वं तदेवात्मन्यपि, युगपदेवोभयत्र प्रतीयमानत्वात् उभयोरैक्यापन्नत्वाच्च । इदन्त्वादेराधारत्वं तु रजतप्रतीतेः पूर्वमपि इदमादौ प्रतीयत इति इदमादिरजतयोर्नैकं तद्वक्तुं शक्यते । तस्य च तादात्म्यस्याधारत्वस्य वा व्यावहारिकमात्रत्वादात्ममनोऽनुयोगिकविशिष्टरूपाभ्यां कर्तृत्वादेर्भेदस्वीकारेऽपि तादात्म्याभिमानेनेत्रादिरीत्या न तदवभासः । प्रातीतिकरूपान्तरं तु कर्तृत्वादेर्न सम्भाव्यत इत्याशयेनाह—सकलेत्यादि । आत्मनीति । एकै(१)कतादात्म्येनाधारत्वेन वेति शेषः । द्वयाभावात्–कर्तृत्वादिव्यवहारिकप्रातीतिकभेदेन रूपद्वयाभावात् । सुषुप्त्येकसिद्ध इति पदव्याख्यानोपसंहारपूर्वकं श्लोकव्याख्यामुपसंहरति––तस्मादित्यादि ॥ १ ॥

नारायणी ।

आत्ममनोवृत्तितया पृथक्तया धर्मयोरग्रहात् । एकमेव कर्तृत्वादिकं न पृथगिति मते समाधत्ते—सकलेति । द्वयेति–व्यावहारिकप्रातिभासिकभेदेन रूपद्वयाभावात् । श्लोकव्याख्यामुपसंहरति–तस्मादिति । अना-

(१) एकेन तादात्म्येत्यादिः घपुस्तके पाठः ।

स्यादेतत्, आत्मनो निर्धर्मकत्वे प्रमात्रादिव्यवहारस्याध्यासमूलत्वेन 'ब्राह्मणो यजेते'त्येवमादीनां शास्त्राणामप्रामाण्यप्रसङ्गः, अकर्तुरभोक्तुश्चात्मनः प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। वेदाप्रामाण्ये च कुतो ब्रह्मसिद्धिरपि। तस्य तन्मात्रगम्यत्वात्। शास्त्रयोनित्वादिति न्यायात्। तथा च वेदप्रामाण्यार्थं प्रमातृत्वादिव्यवहारस्य सत्यत्वमभ्युपेयमित्याशङ्क्य किं तत्त्वज्ञानात्पूर्वमप्रामाण्यमा-

न्यायरत्नावली।

द्वितीयं पद्यमवतारयति-स्यादेतदिति। यत् उक्तं तदास्तामित्यर्थः। प्रमात्रादीत्यादीपदेन ब्राह्मणादिसङ्ग्रहः। तस्य-ब्रह्मणः, तन्मात्रगम्यत्वात्-वेदमात्रगम्यत्वात्। ननु कार्यत्वहेतुकसकर्तृकत्वानुमानेन ब्रह्मसिद्धिस्सम्भवतीत्यत आह-शास्त्रेति। ब्रह्म विचार्यमाणवेदान्तैकगम्यम् वेदान्यमानगम्यत्वाभावात्-सकर्तृकत्वानुमानस्याप्रयोजकत्वात् सत्यज्ञानानन्दशुद्धरूपेणानुमानाद्यगम्यत्वा-

नारायणी।

द्यविद्याध्यासकृततत्कार्यप्रतिबिम्बादेः समर्थनादित्यर्थः। एकस्य-अद्वितीयस्य। उपाधिभेदेन--अन्तःकरणाद्युपाधिभेदेन। प्रमात्रादीत्यादिना सुखित्वादिपरिग्रहः। न सौगतेति। तेनानिर्वचनीयानाद्यविद्यानङ्गीकारात् इति भावः। न वा विरोध इति। केवलस्यैकस्य प्रमातृत्वाद्यनङ्गीकारादिति भावः। स्पष्टम् अन्यत्॥ १॥

द्वितीयपद्यमवतारयति—स्यादित्यादि। (१)*एतत् वक्ष्यमाणं स्यात् अनिष्टमिति शेषः*। प्रमात्रादीत्यादिना ब्राह्मणादिपरिग्रहः। तस्य-ब्रह्मणः, तन्मात्रेति-वेदमात्रेत्यर्थः। कर्तृजन्यत्वव्याप्येन कार्यत्वादिहेतुनापीश्वरसिद्धिः सम्भवतीत्यत आह—शास्त्रेति। शास्त्रमेव योनिः प्रमाणं यत्र तस्य भावः शास्त्रैकसमधिगम्यत्वं तस्मादित्यर्थः। न्यायात् तत्र 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी'त्यादिश्रुतिबलेनोपनिषन्मात्रावगम्यत्वसा-

(१) यदुक्तं तदास्तामित्यर्थः इति खपुस्तके पाठभेदः*...* चिह्नद्वयमध्यवर्ती।

पाद्यते ऊर्ध्वं वा ? । तत्राद्ये सर्वेषां प्रमाणानामविद्याव-द्विषयत्वेन तद्दशायां बाधाभावान्निष्प्रत्यूहं प्रामाण्यम् । द्वितीये त्विष्टापत्तिरेवेत्याह—

न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्मा
न मे धारणाध्यानयोगादयोऽपि ।
अनात्माश्रयाहंममाध्यासहाना-
त्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ २ ॥

न्यायरत्नावली ।

दिति सूत्रार्थः । अविद्यावद्विषयत्वेन—(१)अविद्याकालपरमा-र्थत्वेन गृह्यमाणप्रमेयकत्वेन, तद्दशायां—प्रमाविषयाणामबाध्यत्व-ग्रहदशायाम् । निष्प्रत्यूहमिति दशायामित्यनेनानुषक्तं नान्वितम् । प्रामाण्यम्—अबाध्यविषयकत्वम् । इष्टापत्तिरेवेत्यत्र पद्येनैव हेतुमाह—न वर्णा इत्यादि । योगादयोऽपीत्यपिशब्देन हेतुत्वमुच्यते । तथा च यतो मयि वर्णाद्यभावः, अतोऽद्वितीये इष्टापत्तिरित्यर्थः । वर्णा-द्यभावे हानादित्यन्तं हेतुः । ननु वर्णाश्रमेत्यादौ वर्णाश्रमयोरा-

नारायणी ।

धनादिति भावः । अविद्येति । अविद्यावान् अध्यस्तो व्यवहारकाला-बाध्यो विषयः प्रतिपाद्यो येषां तेऽविद्यावद्विषयास्तेषाम्, भावो व्यवहार-कालाबाध्यविषयधीजनकत्वं तेन, तद्दशायाम्—अविद्यादशायाम्, व्यवहार-काले—अबाध्यत्वग्रहकाले, बाधाभावात्—आत्मतत्त्वधीकरूपबाधकस्यास-त्त्वात् अध्यस्तस्य सत्त्वेन विषयविसंवादाभावाद्वा, अविद्यावानात्मतत्त्वा-नभिज्ञो विषयोऽधिकारी यत्र तेऽविद्यावद्विषयास्तेषां भावोऽविद्वदधिका-रकत्वं तेन प्रामाण्यं फलकामनावत्ताद्दृशपुरुषकर्तव्यताकार्थप्रतिपादक-त्वादिरूपम् । इष्टापत्तिरेवेत्यत्र पद्येनैव हेतुमाह—न वर्ण इत्यादि । योगाद-योपीत्यपिशब्देन हेतु(२)रुच्यते यतो मयि वर्णाद्यभावोऽतो द्वितीये इष्टा-पत्तिरित्यर्थः वर्णाद्यभावे हानादित्यन्तं हेतुः । ननुवर्णाश्रमेत्यादौ वर्णा-

(१) अविद्याकाले प्रमात्वेन गृह्यमाणप्रमाजनकत्वेन इति घपुस्तके ।
(२) हेतुत्वमुच्यते इत्यर्थः ।

वर्णाः ब्राह्मणत्वादयः। आश्रमाः ब्रह्मचर्यादयः। आचाराः स्नानशौचादयः। धर्माः ब्रह्मचर्यगुरुसेवादयः। अत्र द्वन्द्वद्वयगर्भषष्ठीतत्पुरुषेण वर्णानामाचारधर्माश्च आश्रमाणामप्याचारधर्माश्च लभ्यन्ते। धारणा

न्यायरत्नावली।

चारधर्मनिषेधे आश्रमनिषेधो न लभ्यते तत्राह—द्वन्द्वेत्यादि। आश्रमाश्चाचारधर्माश्चेति द्वन्द्वोत्तरं षष्ठीतत्पुरुषेणेत्यर्थः। वर्णसम्बन्धिन आश्रमाचारादयो लभ्यन्ते तेषां मध्ये आश्रमपुरस्कारेण विहिता आचारधर्मा अपि लभ्यन्ते वर्णसम्बन्धित्वादिसाशयेनाह—वर्णानामित्यादि। आश्रमाणामपीत्यपि शब्दादाश्रमा अपि लभ्यन्ते इत्यर्थः। लभ्यन्ते निषेध्यत्वेन ज्ञायन्ते। द्वन्द्वद्वयेति पाठे तु धर्मपदेनैवाश्रमा ग्राह्याः, तेषामपि वर्णधर्मत्वसम्भवात्। धारणाध्यानशब्दयोर्बाह्यविषयसाधारण्येन धारणादिबोधकत्वसम्भवेऽपि प्रकृतपद्यस्य तत्त्वनिष्ठपुरुषक(१)र्तृकत्वेनात्मधारणाध्यानयोरेव उक्तपुरुषे प्रसक्तेः तत्पर(२)त्वमेवाह—धार-

नारायणी।

श्रमयोराचारधर्मनिषेधे आश्रमनिषेधो न लभ्यते तत्राह—द्वन्द्वेति। आश्रमाश्चाचाराश्च धर्माश्चेति द्वन्द्वोत्तरषष्ठीतत्पुरुषेणेत्यर्थः। वर्णसम्बन्धिन आश्रमाचारादयो लभ्यन्ते तेषां मध्ये आश्रमपुरस्कारेण विहिता आचारधर्मा लभ्यन्ते सम्बन्धित्वाविशेषादित्याशयेनाह—वर्णानामित्यादि। लभ्यन्ते निषेध्यत्वेन ज्ञायन्ते। द्वन्द्वद्वयेति पाठे तु धर्मपदेनैव आश्रमा अपि बोध्याः, आश्रमस्यापि वर्णधर्मत्वसम्भवात्। तथाच वर्णाश्चाश्रमाश्चेति वर्णाश्रमौ,आचाराश्च धर्माश्चाचारधर्माः वर्णाश्रमयोराचारधर्माविति विग्रहः। शास्त्रस्यात्मपरत्वात्तत्रोक्तधारणादिपदार्थमात्मपरत्वेन योजयति—धारणेत्यादि। स्थैर्यं स्थिरीकरणं यत्नपूर्वकपरमात्माकारप्रत्ययप्रवाह इति युवात्। बाह्यविषयपरित्यागेनेत्यंशेन प्रत्याहारपूर्वकत्वं धारणाया उक्तं बाह्यविषयासम्प्रयोगस्य योगसू-

(१)—पुरुषवक्तृकत्वेनेति घपुस्तके।
(२) तत्पुरुषत्वमेवेति गपुस्तके।

ब्रह्मणि बाह्यविषयत्यागेन मनसस्स्थैर्यम्। ध्यानं परमात्मचिन्तनम्। योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। आदिशब्देन श्रवणमननादयो गृह्यन्ते। सर्वेषां ज्ञानोत्तरकाले असत्त्वे हेतुमाह—अनात्माश्रयाहंममाध्यासहानादिति। अनात्मा आत्मविरोधिनी अविद्या तदाश्रयस्तदुपादानो योऽहङ्कारममकाराद्यध्यासस्तस्य मूलस्यापि तत्त्वज्ञानेन हानात् तत्प्रयुक्तवर्णाश्रमादिव्यवहारो नास्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

वर्णाश्रमादिव्यवहारस्य मिथ्याज्ञानमूलत्वेन मिथ्यात्वं दृढयितुं तद्व्यतिरेके सुषुप्तौ तद्व्यतिरेकमाह—

न्यायरत्नावली।

णेत्यादि। आत्मविरोधिनी—पूर्णानन्दोऽहमित्यादिव्यवहारविरोधिनी ॥ २ ॥

तृतीयपद्यमवतारयति—वर्णेत्यादि। व्यवहारस्याभिलापप्रवृत्त्यादेः मिथ्याज्ञानमूलकत्वेन 'अहं ब्राह्मण' इत्यादिभ्रमनिमित्तकत्वेन। मिथ्यात्वं—मिथ्याविषयत्वम्। तद्व्यतिरेके—मिथ्याज्ञानव्यतिरेके सति। तद्व्यतिरेकं—वर्णाश्रमादिव्यवहारव्य-

नारायणी।

त्रेषु प्रत्याहारत्वोक्तेरिति संक्षेपः। धारणासाध्यं ध्यानं लक्षयति—परमात्मेति। यत्नमनपेक्ष्यैव परमात्माकारप्रत्ययप्रवाह इत्यर्थः। ध्यानसाध्यं योगं लक्षयति—योग इति। चित्तस्य सत्त्वप्राधान्येन सूक्ष्मपञ्चभूतारब्धस्यान्तःकरणस्य या वृत्तयः विषययोगपरिणामरूपास्तासां निरोधः प्रतिलोमपरिणामेनोपशमः। अतिरोहितार्थमन्यत् ॥ २ ॥

तृतीयपद्यमवतारयति—वर्णेत्यादि। मिथ्येति। 'अहं ब्राह्मण' इत्यादिभ्रममात्रकारणकत्वेन, मिथ्यात्वं बाधितार्थत्वम्। तद्व्यतिरेके-मिथ्याज्ञानव्यतिरेके सति(१) (तद्व्यतिरेकम्-) वर्णाश्रमादिव्यवहारव्यति

(१)—सति वर्णाश्रमादिव्यवहारव्यतिरेके न मातेत्यादिः पाठ आसीत् तं संशोध्य प्रपूरितोऽस्माभिरिति ज्ञेयम्।

२६

न माता पिता वा न देवा न लोका
न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवन्ति ।
सुषुप्तौ निरस्तातिशून्यात्मकत्वा-
त्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोहम् ॥ ३ ॥

माता जनकस्त्री । पिता जनकः पुमान् । देवा इन्द्रादयः आराध्याः । लोकास्तदाराधनफलानि स्वर्गादीनि । वेदाः अलौकिकहिताहितसाधनताप्रतिपादकानि ब्रह्मप्रतिपादकानि च प्रमाणवाक्यानि । यज्ञाः स्वर्गादिसाधनीभूता ज्योतिष्टोमादयः । तीर्थं यज्ञसाधनीभूतः कुरुक्षेत्रादिदेशः । एवं पापकर्मसाधनान्यप्युपलक्षणीयानि । सर्वेषां देहाभिमानमूलकत्वात् तदभाव

न्यायरत्नावली ।

तिरेकम् । न मातेत्यादि । पूर्वपद्यात् मे इत्यस्यानुषङ्गात्, न मे मातेत्यादि सुषुप्तौ न ब्रुवन्ति तस्मादेकोऽहमित्यर्थः । ननु (१)देहादिव्यवहारस्य कथं देहाभिमानमूलकत्वम् तत्राह—सर्वेषामिति । मत्सेव्यत्वादिरूपममत्वाध्यासविशिष्टानां सर्वेषामित्यर्थः । स्वतो-देहाभिमानं विना । सम्बन्धाभावात्--मम-त्वाध्याससम्बन्धाभावात् । अविद्यमानता—ममत्वविशिष्टरूपेण व्यवहारस्य सामान्यस्याभावो युक्त इति भावः । वस्तुतस्तु वर्णाश्रमादिव्यवहारस्य मिथ्याज्ञानमूलकत्वेनेति विवरणादिव्यवहारस्य सर्वस्य मनोऽवच्छिन्नचिन्निष्ठत्वेन 'अहमि'तिमिथ्याज्ञानमूलत्वेनेत्यर्थः । एवं च मे इत्यस्याननुषङ्गेऽपि न क्षतिः । सर्वे-

नारायणी ।

रेकम् । न मातेत्यादौ पूर्वपद्यान्मे इत्यनुषङ्गः, मे मातेत्यादिसुषुप्तौ न ब्रुवन्ति तत्तस्मादेकोऽवशिष्टः अद्वितीयोहमित्यर्थः । सर्वेषामिति । मत्से-

(१) देवादिव्यवहारस्य इति घपुस्तके ।

स्वतस्सम्बन्धाभावादविद्यमानतेत्यर्थः । तथा च सुषुप्तिं प्रकृत्य श्रुतिः-'अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता देवा अदेवा वेदा अवेदा यज्ञा अयज्ञास्स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसश्श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोनन्वागतं पुण्ये-

न्यायरत्नावली ।

षामित्यादि । सर्वव्यवहाराणाम् अहङ्काराध्यासमूलकत्वादित्यर्थः । तदभावे—अहङ्काराध्यासाभावे, स्वतः अहङ्कारानवच्छिन्नचिति, सम्बन्धाभावात्-सर्वव्यवहारसम्बन्धाभावात् । अत्र-सुषुप्तौ । अपिता-ममत्वविशिष्टपितृत्वादिरूपेणाव्यवहार्यः । एवमग्रेऽपि । चाण्डालो-ब्राह्मण्यां शूद्रेणोत्पन्नः । पौल्कसः—क्षत्रियायां जातः । श्रमणः-परिव्राट् । पुण्यपापयोर्व्यवहारहेतूत्पादकत्वात् उपाधिप्रयुक्तभेदस्य मिथ्यात्वेन सच्छून्यत्वाद्व्यवहाराभाव इत्याह—अनन्वागतं पुण्येनेति । सुषुप्तौ पुण्येनानन्वा-

नारायणी ।

व्यत्वादिरूपममत्वाध्यासविशिष्टानां सर्वेषामित्यर्थः । स्वतः-देहाभिमानं विना, सम्बन्धाभावात्-ममत्वाध्यासवैशिष्ट्याभावात् । अविद्यमानसमताममत्वविशिष्टरूपेण व्यवहार्यत्वं तथाच ममत्वाध्यासं प्रति स्थूलदेहाध्यासस्य हेतुत्वात् तदभावे ममत्वविशिष्टरूपेण व्यवहारसामान्याभावो युक्त इति भावः । अथवा वर्णाश्रमादिव्यवहारस्य सर्वस्य मनोऽवच्छिन्नचिन्निष्ठत्वेनाहमिति मिथ्याज्ञानमूलकत्वेनेत्यर्थः । एवं च मे इत्यस्याननुषङ्गेऽपि न क्षतिः । सर्वेषामिति सर्वव्यवहाराणामहङ्काराध्यासमूलकत्वादित्यर्थः । तदभावे-अहङ्काराद्यध्यासाभावे । स्वतः-अहङ्कारानवच्छिन्नचिति। सम्बन्धाभावात्-सर्वव्यवहारसम्बन्धाभावात् । अत्र-सुषुप्तौ, अपिता-ममत्वादिविशिष्टपितृत्वादिरूपेणाव्यवहार्यः । एवमग्रेऽपि। चाण्डालो ब्राह्मण्यां शूद्राज्जातः, पौल्कसः क्षत्रियायां निषादाज्जातः, निषादस्तु शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः, श्रमणः परिव्राट्, तापसः वानप्रस्थः, अनन्वागतम् असंस्पृष्टम्, पुण्येन शास्त्रविहितकर्मजादृष्टेन, पापेन विहिताकरणप्रतिषिद्धकरणजादृष्टेन; कुत इत्याकाङ्-

नानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवती'त्याद्या अभिमानाभावे सर्वानर्थनिवृत्तिमनुवदन्ति। ननु सर्वव्यवहाराभावे शून्यतैव स्यात्। नेत्याह—निरस्तातिशून्यात्मकत्वादिति। निरस्तम् अतिशून्यात्मकत्वं यस्मात्तत्तथा। भावप्रधानो निर्देशः। तस्य सुषुप्तिसाधकत्वात्पुनरुत्थानानुपपत्तेश्च। 'अविनाशी वा अरे अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति, यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न प-

न्यायरत्नावली।

गमः असम्बन्धो जीवेष्वित्यर्थ। अत्र हेतुमाह—तीर्णो हीत्यादि। तदा-सुषुप्तिकाले। शोकान्-व्यवहारविषयतत्साधनीभूतार्थान्, संस्कारान्यकार्यरूपार्थानिति यावत्। धर्मिणो हेतुत्वास्वीकारमते धर्मस्य हेतुत्वलाभायाह-भावप्रधान इति। शून्यात्मत्मकतानिरासे हेतुमाह—सुषुप्तीत्यादि। मात्रासंसर्गः-स्थूलकार्यासम्बन्धः। अस्य—सुषुप्तात्मनः। यद्वा इत्यादि। तत्

नारायणी।

क्षायामाह—तीर्णो हीति। यस्मात्तस्मात्सुषुप्तिकाले हृदयस्य हृदयस्थायाः बुद्धेः सम्बन्धिनः सर्वाञ्छोकान् पापपुण्यहेतुसंस्कारान् तीर्णः अतिक्रान्तो भवतीत्यर्थः। उद्बोधाभावादिति भावः। धर्मिणो हेतुत्वास्वीकारमते धर्मस्य हेतुतालाभायाह-भावेति। तथाच निरस्तातिशून्यात्मकत्वादित्यर्थः। कथमस्मादतिशून्यात्मकत्वनिरासस्तत्राह—तस्येत्यादि। तस्य ब्रह्मणः सुषुप्तिसाधकत्वात्। अन्यथोत्थितस्य स्मृत्यनुपपत्तेरित्युक्तत्वादिति भावः। पुनरुत्थानेति। सुषुप्त्यनन्तरं जाग्रदभिमानित्वानुपपत्तेरित्यर्थः। उत्थातुरप्यनङ्गीकारादिति भावः। न केवलं युक्तिगम्यमेवात्मसत्त्वं तदानीमपि तु श्रुतिगम्यमपीत्यभिप्रेत्य श्रुतिमुदाहरति—अविनाशीति। अविनाशित्वे हेतुमाह—अनुच्छितिधर्मेति। न विद्यते उच्छित्तिर्विनाशो यस्यै तादृशो धर्मः सच्चिदानन्दत्वादिरूपो यस्येत्यर्थः। मात्रेति। मीयन्ते इति मात्रा विषयास्तैरसम्बन्धः अस्य आत्मनः। श्रुत्यन्तरमाह—यद्वै इति। यत् किञ्चित् वै प्रसिद्धं तत्तत्र सुषुप्तौ न पश्यति न

श्यति, न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात् न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येदि'त्यादिश्रुतिभ्यश्चात्मचैतन्यस्य न सुषुप्तौ शून्यतेत्यर्थः। निराकृतमप्येतत्पुनरपि स्थूणानिखननन्यायेन निराक्रियते। यद्वा निरस्तमशनायाद्यतीतम्, अद्वितीयमति-

न्यायरत्नावली।

तदा सुषुप्तिकाले। पश्यति नेति। यद्वै प्रसिद्धं पश्यन् चाक्षुषवृत्त्युपलक्षितचिद्रूपेण प्रकाशमान एव(१) तादृशचाक्षुषवृत्त्यभाववान्। उक्तप्रकाशमानत्वे हेतुमाह—न हीत्यादि। उक्ताभावहेतुत्वे मानमाह—न तु तदित्यादि। ततश्चिद्रूपात् विभक्तं स्थूलरूपापत्तिप्रयुक्तभेदविशिष्टं तत् तदा न त्वास्ति। यदित्यव्ययम् येनेत्यर्थः उत्तरवाक्यस्थो यच्छब्दो न तच्छब्दापक्षः। स्व-

नारायणी।

साक्षात्करोति तत् स्वयंज्योतिस्त्वाभावनिबन्धनं न। कुतः? 'पश्यन्वै तन्न पश्यति' तत्तत्र पश्यन्स्वयंज्योतिःस्वरूप एव सन्न पश्यतीति वै प्रसिद्धं प्रमाणसामान्यव्यापाराभावात्। किं विनिगमकं? तत्राह—नहीति। द्रष्टुः कूटस्थस्य चिन्मात्रस्य स्वरूपभूता या दृष्टिस्तस्याः हि यस्मात् विपरिलोपो न विद्यते तत्र हेतुमाह—अविनाशित्वादिति। विविधो नाशो यस्मात्तद्विनाशि परिणामि, न विनाशि अविनाशि तस्य भावस्तस्मादपरिणामित्वात् इत्यर्थः। न पश्यतीत्यत्र हेतुमाह—नत्विति। तत्तदा सुषुप्तौ। तुशब्दो हेत्वर्थः। यस्मात्ततः कूटस्थचैतन्यात् द्वितीयं प्रमातृभावापन्नम् अन्यत् प्रमाणादिकं विभक्तं स्वरूपाद्विलक्षणं प्रमेयं तमःप्रधानं नास्ति यत्प्रमेयं प्रमाता जीवः करणेन पश्येदित्यर्थः। आशङ्कानिरासाभिप्रायेण हेतुव्याख्यानं शब्दस्वारस्यसिद्धं न भवतीत्यभिप्रेत्य न मातेत्यादिप्रतिज्ञातार्थोपपादनपरत्वेन हेतुं योजयति—यद्वेति। 'धार्मिकोयं कलहान्निरस्तः' इत्यादाविव निरस्तशब्दस्य राहि-

(१) प्रकाशमान एव न पश्यति चाक्षुषवृत्त्यवच्छिन्नचिद्रूपाभावात् 'नाह दृष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' इति श्रुतिशेषः। अयं पाठो घपुस्तके न्यायरत्नावल्यां वर्तते। गपुस्तके तु सिद्धान्तबिन्दावेव पूर्णा श्रुतिरस्ति।

शून्यं यद्ब्रह्म तदात्मकत्वात्। तथा च श्रुतिः—'यदा वै पुरुषः स्वपितिनाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तर'मिति। तेन जगत्कारणीभूतसर्वज्ञसर्वशक्तिपरिपूर्णानन्दबोधरूपेण ब्रह्मणा सहैकत्वादसंसार्येव जीव इति सिद्धम् ॥ ३ ॥

एवं तावत् त्रिभिः श्लोकैः वादिविप्रतिपत्तिनिराकरणपूर्वकं त्वम्पदार्थो निर्धारितः। सम्प्रति तत्पदार्थ-

न्यायरत्नावली।

पितिः—सुषुप्तः, सता—ब्रह्मणा, सम्पन्नः—एकीभूतः, मनआद्यभिमानप्रयुक्तभेदशून्य इति यावत्। प्राज्ञेन—ब्रह्मणा, सम्परिष्वक्तः—उक्तभेदशून्यः। एकत्वादुपाधिप्रयुक्तभेदस्य मिथ्यात्वेन तच्छून्यत्वात् ॥ ३ ॥

नारायणी।

त्यार्थत्वमाह—निरस्तेति। 'एकाक्यमतिशून्य' इत्यादावविवातिशून्यशब्दस्य द्वितीयाभावार्थत्वमाह—अद्वितीयमिति। अति अतिशयेन शून्यं रहितं स्वद्वितीयसर्वशून्यमित्यर्थः। तदात्मकत्वात्-तदभिन्नत्वान्न ममत्वाध्यासपूर्वको मातृत्वादिवन्ध इति भावः। प्रमाणमाह—तथेति। यदा यस्मिन्समये स्वपितिनाम सुषुप्तः सता ब्रह्मणा तदा सुषुप्तौ सम्पन्नः एकीभूतः। एकीभावेनान्यद्दृष्टिरूपबन्धाभावे दृष्टान्तमाह—तद्यथेति। तत्तत्र व्यामिश्रीभावे यथा प्रियया मनोहरणसमर्थया स्त्रिया सम्परिष्वक्तः सम्यक् परिष्वक्तो व्यामिश्रीभावापन्नः कामुकः सम्भोगसुखमनुभवन् स्वस्माद्बाह्यं वहिर्भूतं किञ्चन किञ्चिदपि वस्तु न वेद न जानाति, यथाऽयं दृष्टान्तः एवमेवायं जलचन्द्रादिवत्कार्यकारणादिषु प्रविष्टः क्षेत्रज्ञः पुरुषः उपाधिविलयात् प्राज्ञेन अविद्यासाक्षिणाऽऽत्मना सम्परिष्वक्तोऽत्यन्तमेकीभूतः सन्सर्वात्मना बाह्याद्यभिमानाभावात् बाह्यं मेयादि आन्तरं प्रमातृप्रमितिरूपं न जानातीत्यर्थः। तेन-एकीभावदृष्टान्तादिना स्वतो निरभिमानित्वाद्युपपादनेन ॥ ३ ॥

चतुर्थपद्यमवतारयति—एवमिति। तथैवेति। तत्त्वमसीत्याद्युक्ताभेदस्य सिद्धये चार्वाकादिमतनिराकरणेन त्वंपदार्थो यथाऽकर्त्रभोक्तात्मना निर्धा-

स्तथैव निर्धारणीयः। (१)तत्र निराकार्या वादिविप्रतिपत्तयः प्रदर्श्यन्ते। ननु न ब्रह्मणा सह जीवस्यैक्यमुपपद्यते। तथा हि सच्छब्दवाच्यं जगत्कारणं ब्रह्म 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदि'त्यादिवाक्येन प्रतिपादितम्। जगत्कारणं च प्रधानमचेतनमिति साङ्ख्याः। पशुपति-

न्यायरत्नावली।

चतुर्थपद्यमवतारयति—ननु न ब्रह्मणेत्यादि। प्रधानं साम्यावस्थापन्नं सत्त्वादिगुणत्रयम्। पृथिव्यादिकार्यं सुखदुःखमोहात्मकम्, पुरुषविशेषान्प्रति तथा भासमानत्वात्। तथा च सुखादिपरिणामयोग्यं गुणत्रयं पृथिव्याद्युपादानं कल्प्यते न तु

नारायणी।

रितस्तथा साङ्ख्यादिमतनिराकरणेन तत्पदार्थोऽपि विधेयभूतः केवलात्मना निर्धारणीय इत्यर्थः। वादिविप्रतिपत्तिमुत्थापयति—नन्विति। सद्भावस्यैव-सत्त्वस्यैव। कर्तृजन्यत्वव्याप्यः कार्यत्वहेतुर्न ब्रह्मणोऽनुमापकः सम्भवति, तत्र सकर्तृकत्वमात्रसाधनेऽदृष्टद्वारकक्रुतिमादाय जीवेन सोपादानकत्वसाधने तु प्रधानेन सिद्धसाधनादर्थान्तराच्च, तस्मात् श्रुतिरेव ब्रह्मणि मानमिति वाच्यं तदपि नेत्याह—तथाहीति। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदि'त्यादिवाक्येन प्रतिपादितं सच्छब्दवाच्यं जगत्कारणं न ब्रह्मेत्यन्वयः। आदिना 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजा' इत्यादिवाक्यपरिग्रहः। सच्छब्दवाच्यं सामान्यतः जगत्कारणं जगदुपादानं सदेवेति। अग्रे गुणत्रयसाम्यावस्थायाम् इदं नामरूपाभ्यां व्याकृतं सदेवासीत् परिणामिनित्यं प्रधानात्मनाऽऽसीदित्यर्थः। अत एव नीलोत्पलमित्यादिवत् इदं सदेवासीदिति सामानाधिकरण्यमप्युपपद्यते, जडयोरेव कार्यकारणयोरभेदसम्भवादिति संक्षेपः। प्रधानं साम्यावस्थोपलक्षितं गुणत्रयम्, अचेतनं जडमिति साङ्ख्यमतनिष्कर्षः। एतच्च न सम्यक् श्रुतियुक्तिविरोधात्। तथाहि जडस्य स्वतः प्रवृत्त्ययोगात्प्रवर्तकश्चेतनोऽसर्वज्ञजीवाद्भिन्न आवश्यकः, स च 'भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मे'तिश्रुतेः पशुपतिरेवेति पाशुपतमतमवतारयति—पशुरेवेति।

(१) तदर्थं निराकार्येति कपुस्तके।

रेव जगत्कारणम्। स च चेतनोऽपि जीवाद्भिन्नस्स(१) उ-

नारायणी।

यदा तमस्तत्र दिवा न रात्रिर्न सन्न चासन् शिव एव केवलः।
तत्सवितुर्वरेण्यम्,
प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।
इत्यादिश्रुतेरिति भावः।

चेतनस्तु द्विधा प्रोक्तो जीव आत्मेति च प्रभो।
जीवा ब्रह्मादयः प्रोक्ता आत्मैकस्तु जनार्दन॥

इत्यादिवाक्येन वैष्णवसाधितं जीवकोटिप्रवेशं वारयति—स चेति। पशूनां जीवानां पतिश्चेत्यर्थः। जीवाद्भिन्न इति। माण्डूक्यादौ 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोन्तर्यामी'त्यादिना जीवकोटिप्रवेशनिरासादिति भावः। न च तदन्यपरमेवेति वाच्यम्। 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्त' इत्युपसंहारविरोधात्। तत्र तत्र शिवपदस्य शोधितत्वंपदार्थपरत्वमतनिरासायाह—तदिति। जीवोपास्य इत्यर्थः। 'शिव एको ध्येय' इत्यादिश्रुत्या ध्येयत्वमात्रोक्तेः ध्यातृजीवाद्भिन्न एव शिवपदार्थ इति भावः।

(२)+उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति विश्वयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥
इत्यादिकैवल्यश्रुतेः

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

इति श्वेताश्वरश्रुतेश्च+। श्रुतिसमन्वयोऽपि तत्रैव। शिव एको ध्येयः शिवङ्करः सर्वमन्यत्परित्यज्य [समाप्ताथर्वशिखेति] श्रुतिसमाप्तौ शिवपरत्वेनोपसंहारात्। शिवपदप्रतिपाद्यस्तु हररुद्रेशानादिपदबोध्य एव, आनुशासनिके 'शिव एव भगवानीश' इत्युपक्रम्य--

सोसृजद्दक्षिणदङ्गाद्ब्रह्माणं लोकसम्भवम्।
वामपार्श्वात्तथा विष्णुं लोकरक्षार्थमीश्वरम्॥
युगान्ते चैव सम्प्राप्ते रुद्रं प्रभुरथासृजत्।

इत्यादिना मूर्त्तित्रयजनकत्वोक्तेः। तथाच वैष्णवोक्तवाक्यविषयो मू-

(१) जीवस्तदुपास्य इति कखपुस्तकयोः नारायण्यां च।
(२) +...+ अयं पाठश्चिह्नितो नास्ति खपुस्तके।

नारायणी ।

त्तित्रयगतो रुद्र एवेति न कोऽपि विरोधः (१)इति शैवमतनिष्कर्षः। (२)*न चैतदन्यपरं वक्तुं शक्यम् ।

तस्य साधारणी मूर्त्तिः साम्बा चन्द्रार्द्धशेखरा ।
तमेव सततं विष्णुब्रह्माद्याश्च सुरेश्वराः ॥
ध्यायन्ति बन्धनाशाय जनानां हितकाम्यया ।

इत्यादिपुराणवाक्यैरुमापतेः पशुपतेरेव शिवादिपदैर्व्युत्पादनात् । अत एव सौरपुराणे—

ब्रह्माण्डमेतत्सकलं ब्रह्मणः क्षेत्रमुच्यते ।
सहस्रकोटयः सन्ति ब्रह्माण्डास्तिर्यगूर्ध्वगाः ॥
ब्रह्माणो हरयो रुद्रास्तत्र तत्र व्यवस्थिताः ।
आज्ञया देवदेवस्य महादेवस्य शूलिनः ॥
ब्रह्माण्डानामसङ्ख्यानां ब्रह्मविष्णुहरात्मना ।
उद्भवे प्रलये हेतुर्महादेव इति श्रुतिः ॥

इति शैवमतनिष्कर्षः। तदेतत्पाञ्चरात्रत्वेन प्रसिद्धा वैष्णवा न सहन्ते। तथाहि संहारकातिरिक्तशिवे मानाभावात्* । संहारकश्च नारायणात्मजः । 'नारायण एवाग्र आसीदि'त्युपक्रम्य पुनरेव 'नारायणः सोन्यत्कामो मनसा ध्यायते तस्य ध्यानान्तरस्थस्य ललाटात् त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषोऽजायत बिभ्रच्छ्रियं सत्यं ब्रह्मचर्यं तपो वैराग्यं ज्ञानमैश्वर्यमि'ति महोपनिषदि,

ब्राह्मे रात्रिक्षये प्राप्ते विष्णोरमिततेजसः ।
प्रसादात्प्रादुरासीत्तत् पद्मं पद्मनिभेक्षण ॥
ततो ब्रह्मा समभवत् तस्यैव च प्रसादतः ।
अह्नक्षये ललाटाच्च सुतो देवस्य वै तथा ॥
क्रोधाविष्टस्य संजज्ञे रुद्रः संहारकारकः ।
एतौ च विबुधश्रेष्ठौ प्रसादक्रोधजावुभौ ॥
तदादेशितपन्थानौ सृष्टिसंहारकारकौ ।
निमित्तमात्रं तावत्र सर्वप्राणिवरप्रदौ ॥

इति महाभारते मोक्षधर्मेऽपि नारायणात्मजत्वोक्तेः। यश्च यदातम इत्यादिवाक्यबोधितः स च नारायण एव, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इत्यादिश्रुत्या,

(१) इति शैवमतनिष्कर्ष इति पाठो नास्ति कपुस्तके ।
(२) *...*चिह्नितः पाठो नास्ति खपुस्तके ।

पास्य एवेति पाशुपताः। भगवान्वासुदेव ईश्वरो जगत्कारणम्। तस्मादुत्पद्यते सङ्कर्षणाख्यो जीवः। तस्मान्मनः प्रद्युम्नः। ततोऽहङ्कारोऽनिरुद्धः। तेन कार्यत्वाज्जीवस्य तेन सह ब्रह्मणो वासुदेवस्यात्यन्तभेद

न्यायरत्नावली।

ब्रह्म, तस्यापरिणामित्वात्। एकस्वभावस्य त्रिविधस्वभावकार्यजनकत्वानुपपत्तेरिति भावः। जीवः–सर्वजीवाभिमानी। मनः–सर्वमनोऽभिमानी। अहङ्कारः—सर्वाहङ्काराभिमानी। तेन ब्रह्मणो जीवादिरूपजगत्कारणत्वेन नात्यन्ताभेद इति। भेदाभेदौ तु

नारायणी।

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥

इत्यादिमहाभारतवाक्यादिना सर्वोत्कर्षवत्प्रतिपादकानां शब्दानां विष्णुपरत्वसमर्थनात्। तस्माच्छ्रुतिस्मृतिप्रतिपाद्यं जगत्कारणं विष्णुरेव स च ब्रह्मनारायणहरिवासुदेवादिशब्दैः प्रतिपाद्य इति वैष्णवमतमवतारयति—भगवानिति।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीङ्गना॥

इत्युक्तषड्गुणपरिपूर्णः 'यस्माद्यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्चे'त्यादिश्रुतिप्रतिपादितः। वासुदेवः वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिन्निति वासुः, स्वसृज्यपरिपाल्यसंहार्यसर्वाधिष्ठानम्, दीव्यतीति देवः स्वप्रकाशरूपः स चासौ देवश्चेति वासुदेवः 'सर्वतः पश्यति सर्वतः शृणोती'त्युपक्रम्य 'यमप्येति भुवनमि'त्यादिनृसिंहतापिन्याद्युक्तः ईश्वरः सर्वभूतनियन्ता।

भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

इतिश्रुतिप्रतिपादितः। जगत्कारणं जगदुपादानं निमित्तं च यस्मात् स्वमहिम्ना 'सर्वाँल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि विरामयत्यजः संसृजति वासयतो'तिश्रुतिभ्य इति भावः। जीवः सर्वजीवाभिमानी, मनः सर्वमनोभिमानी, अहङ्कारः सर्वाहङ्कारा-

इति पाञ्चरात्रिकाः । परिणामिनित्यः सर्वज्ञो भिन्ना-

न्यायरत्नावली ।

कालभेदेन स्तः । यदाहुः—

आमुक्तेर्भेद एव स्याज्जीवस्य च परस्य च ।
मुक्तस्य तु न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावतः ॥ इति ॥

परिणामिनित्यः—अन्यथान्यथा च परिणममानोऽपि अनुच्छिन्नस्वभावो जगतः ब्रह्मपरिणामत्वादेव सत्यत्वम् । कारणसमानसत्ताकं कार्यं तात्त्विकोऽन्यथाभावो वा परिणाम इति लक्षणात् । भिन्नाभिन्न इति । जीवेन जगता च सह तस्य भेदा-

नारायणी ।

भिमानी । तेन—ब्रह्मणो जगज्जीवादिकारणत्वेन । अत्यन्ताभेद इति । भेदाभेदौ कालाभेदेन स्त इति भावः । यदाहुः—

आमुक्तेर्भेद एव स्याज्जीवस्य च परस्य च ।
मुक्तस्य तु न भेदोस्ति भेदहेतोरभावतः ॥

इतिवैष्णवमतनिष्कर्षः । एतदपि जैना न सहन्ते । तथाहि शिवविष्ण्वादिशब्दानां शुद्धबुद्धसच्चिदानन्दैकमात्रपरत्वात् ।तत्र पदार्थो द्विविधः, आत्माऽनात्मा च । तत्रानात्मा देहेन्द्रियादिः स्फुट एव । आत्मा तु त्रिविधः, परमात्मा अन्तरात्मा बहिरात्मा चेति । तत्र परमात्मा सच्चिदानन्दघनः शुद्धो बुद्धोऽबाह्यो ब्रह्म विष्णुशिवादिपदव्यपदेश्यो निर्गुणः । अन्तरात्मा तु परमानन्दानुभविता सर्वोप्याधिकारिकवर्गः आस्तिकनास्तिकग्रन्थेषु प्रसिद्धो व्यासः जिनादिः । बहिरात्मा तु देहाभिमानी कर्मवशगः शरीरपरिणामः सावयव इति । सोयमात्मभेदो जगच्च प्रलये ब्रह्मानन्यत्वं प्राप्य सर्गकाले ब्रह्मण एव प्रादुर्भवतीति ब्रह्मैव सर्वस्य परिणामीति जैनमतमवतारयति—परिणामीति । एतावन्मात्रमादाय मूले जैनत्रिदण्डिनोरैकमत्येन निर्देशः । समुद्रस्य तरङ्गादिवद्ब्रह्मण एव सर्वपरिणाम इति द्वाभ्यामपि प्रतिपादनादिति दिक् । परिणामिनित्यः जगज्जीवात्मना परिणममानोऽपि अनुच्छिन्नस्वरूपः, जगतो ब्रह्मपरिणामित्वादेव सत्यत्वं सदुपादानकस्य सत्यत्वनियमात् कारणसमसत्ताकोन्यथाभावः परिणाम इति लक्षणाच्चेति भावः । भिन्नाभिन्न इति । कार्यरूपेण भिन्नः कारणरूपेणाऽभिन्न इत्यर्थः तदुक्तम्—

भिन्न इति जैनाः त्रिदण्डिनश्च। नास्ति सर्वज्ञत्वाद्यु-पेतं ब्रह्म। आम्नायस्य क्रियार्थपरत्वेन तत्र तात्पर्या-भावात्। किन्तु वाग्धेन्वादिवत्सर्वज्ञत्वादिदृष्ट्या जग-

न्यायरत्नावली।

भेदौ। तथा चाभेदमादाय 'तत्त्वमसि, इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्या-दिश्रुतयः भेदमादाय 'यो विज्ञाने तिष्ठन्, यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादिश्रुतयः प्रवर्तन्ते। तत्त्वज्ञानकर्मभ्यां भेदस्य लिङ्गशरीर-स्य च निवृत्तिर्मोक्ष इति भावः। सर्वज्ञत्वादीति। सर्वज्ञत्वज-गत्कारणत्वादीत्यर्थः। आम्नायस्य—यतो वेत्यादिश्रुतेः। क्रि-यार्थपरत्वेन-उपासनाविधिपरत्वेन। तत्र-सर्वज्ञत्वादिमति। तात्पर्याभावात्—अवान्तरतात्पर्यस्याभावात्। वाग्धेन्वादिवत्-

नारायणी।

कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना।
हेमात्मना यथा भेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा॥

इति। तथाच जीवेन जगता च सह भेदाभेदयोः सत्त्वाद् भेदवा तोपि तत्र तत्र परस्परमविरोधेनैव प्रमाणमिति तेषाभिप्रायः। परन्तु रामानुजेन मकारार्थस्य जीवकोटौ प्रवेशाङ्गीकाराज्जीवपरमात्मनोः पितापुत्रन्यायेनैवाभेदाङ्गीकाराच्च जैनादप्यपकर्षो ज्ञातव्यः। 'मकारेण परब्रह्मान्विच्छेदि'ति नृसिंहतापिन्यादिश्रुतिविरोधात्। अत एव मूले पश्चादुक्तिः (१ एतदपि जैमिनीया न सहन्ते तथाहि-परमात्मनि माना-भावात्, अनुमानस्य साङ्ख्ययुक्तरीत्या निरासात्, उपनिषदां चार्थ-वादत्वेन स्वार्थपरत्वाभावात् तत्राप्रमाणत्वात्, अतो जगदुपादानं प्रधानं वा परमाणवो वा निमित्तं च कर्मद्वारा जीव एवेत्यभिप्रायकं जैमिनिमतमवतारयति—नास्तीति। आदिपदाज्जगत्कारणत्वादिधर्मपरि-ग्रहः। आम्नायस्य-वेदस्य क्रियापरत्वेन-फलवद्विधेयार्थतात्पर्यकत्वेन। तत्र सिद्धार्थे ब्रह्मणि सर्वज्ञत्वादिनाभिमते, तात्पर्याभावात्-तत्प्रमा-शक्तत्वाभावात्। वाग्धेन्वादिवत्-धेन्वादिदृष्ट्या वागादिरिव। आदि-पदा'न्मनो ब्रह्मे'त्यादिपरिग्रहः। जगत्कारणं-जगदुपादानं निमित्तं वा। परमाण्वादीत्यादिपदात्प्रधानाद्वैतादिपरिग्रहः। तत्र ज्ञानं सर्वविषय-

(१)—दुक्तिस्तु प्रामाण्याभ्युपगन्तृत्वेनैव इति संक्षेपः इति पाठोऽधिकः खपुस्तके।

त्कारणं परमाण्वादि जीवो वा उपास्य इति मीमांसकाः । अस्ति नित्यज्ञानादिमानीश्वरः सर्वज्ञः

न्यायरत्नावली ।

धेन्वादिदृष्ट्या वागादेरिव । जगत्कारणं–सर्वकार्यप्रयोजकम् । अथ परमाण्वादौ ज्ञानं तत्र सर्वविषयत्वमित्यारोपद्वये गौरवादाह–जीवो वेति । जगत्कारणमित्यनुषज्यते । अदृष्टजननद्वारा जगत्प्रयोजक इत्यर्थः । उपास्य इति । तथा च 'यतो वे'त्यादिश्रुतेः यतः परमाण्वदृष्टादेर्जीवाद्वा जगदुत्पत्त्यादिकं तत् सर्वज्ञत्वादिदृष्ट्या उपासीतेत्यर्थ इति भावः । अस्तीत्यादि । 'आद्यकार्यं स्वोपादानादिविषयकापरोक्षज्ञानेच्छाकृतिमज्जन्यम् कार्यत्वात् घटवत्' इत्यनुमानात् ज्ञानादेर्नित्यत्वे ज्ञानादिमत एकत्वनित्यत्वयोश्च लाघवमिति धीसहकृतादीश्वर-

नारायणी ।

कत्वं चेत्यारोपद्वये गौरवादाह—जीवो वेति । जगत्कारणमित्यनुषज्यते । उपास्य इति । तथाच 'यतो वे'त्यादिश्रुतेर्यतः प्रधानात्परमाणोरदृष्टाज्जीवाद्वा जगदुत्पत्तिस्तत् 'यः सर्वज्ञ' इति श्रुत्युक्तसर्वज्ञत्वदृष्ट्योपासीतेति तन्मताभिमतश्रुत्यर्थ इति संक्षेपः । तदेतत्तार्किका न सहन्ते । 'चैत्र पुत्रस्ते जातो मृत'इत्यादौ कार्यार्थबोधकपदं विनापि सिद्धार्थबोधदर्शनात्, वाक्यमात्रस्य कार्यान्वितार्थबोधकत्वानियमात्, उपक्रमादिषड्विधलिङ्गोपेतत्वादुपनिषदां ब्रह्मपरत्वसमर्थनाच्च । ब्रह्म च 'यः सर्वज्ञ'इत्यादिश्रुतेर्नित्यज्ञानादिमत् 'ज्ञाज्ञौ द्वा'वितिश्रुतेर्जीवाद्भिन्नमिति तार्किकमतमवतारयति—अस्तीति । नित्यज्ञानादिमान्–नित्यज्ञानेच्छाकृत्याश्रयः, 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे'ति श्रुत्या ज्ञानेच्छाकृतीनां नित्यत्वलाभादिति भावः । ईश्वरः–सृष्टिस्थित्यन्तकर्ता । तदुपपादकं विशेषणमाह—सर्वज्ञ इति । सर्वविषयकविशेषज्ञानवानित्यर्थः । स इत्याश्रयप्रत्ययेन ज्ञानाश्रयत्वलाभान्न ज्ञानस्वरूप इति भावः । (१)*न च नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'तिश्रुतिविरोध इति वाच्यम् । तत्र विजानातीति विज्ञानमिति कर्तरि ल्युडङ्गीकारेण नित्यज्ञानवत्त्वलाभात् । न च तावतापि

(१) *......* चिह्नद्वयमध्यगः पाठो नास्ति खपुस्तके ।

(१)पृथिव्यादिकार्यलिङ्गानुमितः स च जीवाद्भिन्न एवेति तार्किकाः। क्षणिकस्सर्वज्ञ इति सौगताः। क्लेशकर्मवि-

न्यायरत्नावली।

सिद्धिरित्यर्थः। जीवाद्भिन्न इति। जीवस्य परमाण्वादिप्रत्यक्षासम्भवेन तादृशज्ञानादिमतो न जीवत्वमिति भावः। क्षणिक

नारायणी।

ज्ञाने कथं नित्यत्वलाभस्तत्र धर्मिण एव नित्यपदान्वयादिति वाच्यम्। विशिष्टान्वयिनोऽसति बाधके विशेषणेप्यन्वयात्*। उपनिषदां ब्रह्मपरत्वं व्यवस्थापयिष्यन् तर्कतस्तत्सिद्धिमाह—क्षित्यादीति। क्षितिः आदिर्यस्य कर्मधृत्यादेस्तत् क्षित्यादि, तदेव कार्यरूपं लिङ्गं तेनानुमितः तज्ज्ञानजन्यानुमितिविषयः। तथाहि--'क्षितिः सकर्तृका कार्यत्वाद्घटवत्' 'द्व्यणुकजन्यमाद्यं परमाणुकर्म प्रयत्नवज्जन्यं कर्मत्वात् सम्मतवत्' 'ब्रह्माण्डादिधृतिः प्रयत्नवज्जन्या धृतित्वाद्वियतिविहङ्गमधृतिवदि'त्याद्यनुमानैर्नित्यत्वैकत्वलाघवानुगृहीतैर्नित्यैकप्रयत्नवदीश्वरसिद्धिः। जन्यता च यत्र समवायेन कार्यं तत्र विषयतया ज्ञानादिरित्येवं प्रत्यासत्तिनियता घटादौ दृष्टा ग्राह्या। तेन नोक्तरीत्या जीवेन सिद्धसाधनमर्थान्तरं वा, जीवज्ञानकृत्यादिजन्यताया उक्तप्रत्यासत्त्यनालिङ्गितत्वात् समवायेन द्व्यणुकाधिकरणे विषयतया जीवज्ञानादेरभावादित्यन्यत्र विस्तरः। स च परमात्मा शिवहररुद्रेशानब्रह्महरिनारायणविष्णुशब्दादिबोध्यो हरिरुद्रादिमूर्त्यादिभिः क्रीडन्नपि वस्तुतो भिन्न एव 'त्रीनेव विभक्तांस्त्रीनेवाविभक्तानि'त्यादिश्रुतेः इति भावः। तर्ह्येवं जीवादप्यभेदः स्यात्तत्राह--स चेति। स च परमात्मा जीवात् असर्वज्ञचेतनात् भिन्न एव कालत्रयाबाधितभेदवानित्यर्थः। एवेत्यनेन तत्त्वज्ञानादूर्ध्वमप्यभेदो नास्तीति ज्ञापितम्। चातुर्मास्यमध्यपर्वणो-'र्द्वयोः प्रणयन्ती'ति वाक्येन(२) चोदकप्राप्तप्रणयनविलक्षणाग्निप्रणयनस्येव 'द्वा सुपर्णे'त्युपक्रम्य मध्ये 'अनश्नन्नन्यः' 'अन्यमीशमि'त्याद्यस्य 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'त्युपसंहारवाक्यैनैव प्रत्यक्षादिप्रमाणप्राप्तव्यावहारिकभेदविलक्षणत्रिकालाबाध्यापूर्वभेदस्य प्राप्तेरिति तार्किकमतनिष्कर्षः। तदेतद्बौद्धा न सहन्ते। तथाहि—वित्तिवेद्ययोः सहोपलम्भात् विज्ञानव्यतिरेकेण वस्तुनोऽभावात् न परमात्मा विज्ञानाश्रयो न वा जगत्कर्ता किन्तु सत्त्वेन प्रतिक्षणविनाशिनिरुपप्लवालयविज्ञानप्रवाह एव सकलप्रवृत्तिविज्ञानविषयकः परमात्मेति योगाचारमतमवतारयति–क्षणिक

(१)क्षित्यादीत्यादिः कखपुस्तकयोः नारायण्यां च पाठः। (२)चोदकप्राप्त्याश्रयेति खपुस्तके।

पाकाशयैरपरामृष्टो नित्यज्ञानरूपः प्रधानांश सत्त्वगुण-

न्यायरत्नावली।

इत्यादि। जगत्सर्वं क्षणिकं दुःखं मिथ्येत्याकारकं रागद्वेषाद्य-नुपरक्तं सर्वविषयकं यत् क्षणिकं ज्ञानं तत्प्रवाहरूपमित्यर्थः। जीवात्मकज्ञानप्रवाहहेतुज्ञानं क्षणिकमपि न तादृशमिति भावः। क्लेशेत्यादि। अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। अ-नित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। दृग्द-र्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता। आत्मबुद्ध्योर्भेदाग्रहोऽस्मितेत्यर्थः। कर्म-पुण्यपापे। विपाकः—कर्मफलम् जन्मायुर्भोगाः। आशया वासनाः। अपरामृष्टः-अव्यवह्रियमाणः। जीवस्तु निर्लेपत्वेन तैश्शून्योऽपि तदाश्रयबुद्ध्या विवेकेनागृह्यमाणत्वात् तद्विशिष्टरूपे-ण व्यवह्रियमाणः। ज्ञानरूपः-नित्यचिद्रूपः। प्रधानांशसत्त्वगु-

नारायणी।

इति। द्वितीयक्षणविनाशीत्यर्थः। अर्थक्रियाकारित्वात् चरम-शब्दवदिति भावः। सर्वज्ञः प्रवृत्तिविज्ञानरूपयावदर्थविषयकनिरुपप्लव-विज्ञानप्रवाहरूप इत्यर्थः। सर्वज्ञ इत्याश्रयतया निर्देशस्तु 'इह वने तिलकां' इति वत्सन्तानसन्तानिनोर्भेदविवक्षयेति बोध्यम्। तथा च जीवो जग-त्सर्वं दुःखरूपमित्यजानन्सोपप्लवो भवति सर्वज्ञस्तु तथा जानन् रागद्वे-षादिना रहितो निरुपप्लव इति नित्यमुक्त इति तन्मतनिष्कर्षः। तदेतत्पा-तञ्जला न सहन्ते। तथाहि—विज्ञाननित्यत्वकल्पने गौरवान्मानाभावाच्च। अप्रयोजकत्वेन सत्त्वहेतोः क्षणिकत्वासाधकत्वात् सर्वज्ञस्यैव विज्ञा-नात्मत्वे च 'चैत्रमैत्रावि'त्यादिसमूहालम्बने चैत्रमैत्रादीनामैक्यापत्तेः। विज्ञानव्यतिरेकेण बाह्यवस्तुनोऽपि आवश्यकत्वाच्च। तस्मात्साक्षित्व-रूपोपष्टम्भकत्वमात्रेण जगतः कर्ता क्लेशादिभिरसंसृष्टो नित्यविज्ञानस्व-रूप एव परमात्मा 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'ति श्रुतेरिति पातञ्जलमतमव-तारयति—क्लेशेति। क्लेशाः अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः कर्म धर्माधर्मौ विपाकः फलं सुखदुःखादि, आशया वासना एतैः अपरामृष्टः कालत्रयेऽप्यसंसृष्टः, पुरुषविशेषः नित्येश्वरः नित्यज्ञानस्वरूपः कालत्र-याबाधितज्ञानस्वरूपः। कथं तर्हि सर्वज्ञत्वं तत्राह—प्रधानेति। प्रधानं

प्रतिफलिततया सर्वज्ञः संसारिविलक्षण एवेति पातञ्जलाः। अद्वितीयपरमानन्द एव ब्रह्म । तच्च जीवस्य

न्यायरत्नावली।

णप्रतिफलिततया-प्रधाने तदंशेषु तत्कार्येषु त्रिगुणात्मकेषु स-

नारायणी।

चांशश्च प्रधानांशौ तयोः सत्त्वगुणः प्रधानांशसत्त्वगुणः, सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वात् अवयवभूतः तत्र प्रतिफलिततया—प्रतिबिम्बततया । तथा च प्रतिबिम्बद्वारकसम्बन्धमादाय तस्य सर्वज्ञत्वं जीवस्य तु प्रमाणवृत्तिसापेक्षप्रतिबिम्बद्वारकः सम्बन्ध इति न सार्वज्ञ्यमिति भावः। अत एव तस्माद् भेदमाह—संसारीति। जीवाद्भिन्न इत्यर्थः। येऽपि केचन व्यासादयः सर्वज्ञास्तेऽप्युपासनाबलादीश्वरा अतो जीवा एवेति नेश्वरेऽन्तर्भूता इति पातञ्जलमतनिष्कर्षः। तदेतदुपनिषत्प्रतिपाद्याद्वितीयात्मतत्त्वविरोधान्नातिरमणीयम् । (१)तथाहि—जीवपरमात्मनोर्भेदे मानाभावात्। 'न च नाहमीश्वर' इत्यादि प्रत्यक्षं तत्र मानम्। 'अहं गौर' इत्यादिवद् भ्रमत्वात्। नापि जीवो ब्रह्मणो भिन्न असर्वज्ञत्वादित्याद्यनुमानम्, व्यावहारिकभेदेन सिद्धसाधनात्। उपमानं त्वप्रसक्तमेव! नापि 'द्वा सुपर्णे'तिश्रुतिः अपूर्वार्थत्वाभावात्। न च निरुक्तरीत्या तथा। तत्त्वमस्यादिवाक्यविरोधेन विलक्षणभेदपरत्वायोगात्। न च किं विनिगमकमिति वाच्यम्। निरवकाशत्वस्यैव विनिगमकत्वात्। नाप्यर्थापत्तिः। वास्तवभेदं विनाऽनुपपत्तेरभावादित्यन्यत्र विस्तरः। तस्माच्छुद्धपरमात्मैव ब्रह्म, तच्च स्वशक्तितारतम्यात् जीवेशादिव्यपदेशभाग्भवति न तत्र भेदगन्धोपीति सकलमतमूर्द्धन्यमद्वैतमतमवतारयति—अद्वितीयेति। अद्वितीयः—सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यः 'एकमेवाद्वितीयमि'ति श्रुतेः। परमानन्द एव-नित्यानन्द एव, नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'ति श्रुतेः । (२)*न च 'विजानाती'ति व्युत्पत्त्या विज्ञानमस्येति व्युत्पत्त्या वा विज्ञानमिति कर्तरि ल्युडङ्गीकारेण नित्यज्ञानवत्त्वलाभः एवमानन्दोऽस्यास्तीति मत्वर्थीयाच्प्रत्ययेनानन्दवत्त्वलाभश्च, अन्यथा नपुंसकलिङ्गानापत्तेरिति वाच्यम्। लिङ्गव्यत्ययस्य छान्दसत्वेनाप्युपपत्तेः। गुणगुणिभावसम्पादकसमवायादिसम्बन्धस्य प्रथमश्लोकव्या-

(१) तथाहि नाहमीश्वर इत्यादिप्रत्यक्षमिति पाठः खपुस्तके।
(२) *......*अयं चिह्नितः पाठो नास्ति खपुस्तके।

वास्तवं स्वरूपं मायया च सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं जगत उपादानं निमित्तं चेति औपनिषदाः। एवं वादिविप्रतिपत्तिभिः सन्दिग्धे तत्पदार्थं औपनिषदपक्षस्य परिशेषेण तन्निर्णयायाह भगवान्—

न साङ्ख्यं न शैवं न तत्पाञ्चरात्रं
न जैनं न मीमांसकादेर्मतं वा।
विशिष्टानुभूत्या विशुद्धात्मकत्वा-
त्तदेकोऽवशिष्टश्शिवः केवलोऽहम् ॥ ४ ॥

आदिशब्देनानूक्तानां सङ्ग्रहः। न तावदचेतनं जगदुपादानम्। 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेये' ति ईक्षणपूर्व-

नारायणी।

ख्याने विस्तरेण निराकृतत्वाच्च। 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' 'केवलो निर्गुणश्च' चिद्रूप एवाऽविकारो ह्युपलब्धा नित्यः शुद्धो बुद्धः परः प्रत्यगेकरस' इत्यादिश्रुतिविरोधापत्तेः*। वास्तवमिति। उपाधिपरित्यागेन प्राप्यं रूपं 'ब्रह्मेव सन्ब्रह्माप्येती'त्यादिश्रुतेः। माययेति। मायाकृतसर्वज्ञत्वादिविशिष्टं 'तदेतत्स्वप्नं मायामात्रमि'ति श्रुतेः। जगदुपादानं रजताद्यात्मना शुक्त्यादिवज्जगदात्मना विवर्तमानं 'यतो वा इमानि भूतानी'ति श्रुतेः। निमितं च तदनुकूलेक्षणादिमत्त्वेन। निमित्तकारणं च 'एतद्धीदं सर्वं साधयती'ति श्रुतेः। औपनिषदाः—उपनिषत्प्रमाणमात्रप्रधाना वेदान्तिनः। सन्दिग्धे—जगत्कारणं प्रधानं ब्रह्म वा ? ब्रह्म निर्गुणं सगुणं वा? निर्गुणमपि भिन्नमभिन्नं वा ? इत्यादिविशेषतः सन्दिग्धे, परिशेषेण—इतरमतनिरासेनौपनिषदपक्षस्य निर्दुष्टत्वव्यवस्थापनेन, तन्निर्णयाय—तत्पदार्थनिश्चयाय, श्लोकतस्तन्निरासमाह—न तावदिति। अचेतनं जडं साङ्ख्यपातञ्जलाभ्यां परिकल्पितं स्वतन्त्रं साम्यावस्थोपलक्षितं गुणत्रयात्मकं जगदुपादानं जगत्परिणामिकारणम्, तत्र हेतुमाह—तदैक्षतेति। तद्ब्रह्म ऐक्षत ईक्षणं कृतवत् बहुस्यां प्रजायेय प्रजार्थं नानाविधः स्यामितीक्षणपूर्वकसृष्टिश्रवणात्, ईक्षणकर्तृकर्मकसृष्टिश्रुतेः ईक्षणं 'कुलं पिपतिषती'त्यादाविव प्रकृते 'तत्तेज ऐक्षत' इत्या-

कसृष्टिश्रवणात्, 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी'ति च जीवात्मत्वव्यपदेशात्' 'यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवती'ति चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानात्' प्रधानज्ञानेन च तदप्रकृतिकानां पुरुषाणां ज्ञातुमशक्यत्वात्, 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्स-

न्यायरत्नावली ।

स्वांशे प्रतिबिम्बिततया । व्याकरवाणीति चेति । ब्रह्मण इति शेषः । यस्मिन्विज्ञात इत्यादि । यस्मिन् ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवति, तद्ब्रह्मेत्येव प्रतिज्ञानादित्यर्थः । सर्वेषां दृश्यानां ब्रह्मैव स्वरूपम् । तस्यैव हि अतात्त्विकोऽन्यथाभावः प्रपञ्चः । अतः तस्य ज्ञानं सर्वस्य स्वरूपज्ञानमिति भावः । ननु प्रधानस्य प्रपञ्चप्रकृतित्वेन प्रपञ्चाभिन्नत्वात् प्रधानज्ञानं प्रपञ्चाभिन्नस्वरूपज्ञानं तत्राह-प्रधानज्ञानेनेति । अशक्यत्वादिति । तथा

नारायणी ।

दाविव च गौणं भविष्यतीत्यत आह—अनेनेति । अहमितिधीगोचरेण जीवेनात्मना कर्तृभोक्तृस्वरूपात्मना प्रविश्य तत्राविर्भूय । नामेति । इदं नामेदं रूपमिति व्यक्तीकरोमि । जीवात्मत्वेति–जीवाभेदकथनात् कारणस्येति शेषः । तथा च गौणमीक्षणं तत्कर्तुश्चेतनस्य व्यक्तत्वादिति भावः । ननु जीवेनात्मनेति तृतीया सहार्थिका अथवाऽऽत्मशब्दो'ममात्मा भद्रसेन' इतिवच्चेतनाचेतनवाची भविष्यति ज्योतिःशब्दस्य क्रतुज्वलनवाचित्ववत्तत्राह—यस्मिन्निति । यस्मिन्पदार्थे विशेषेण ज्ञाते सर्वमिदं परिदृश्यमानं तन्मात्रसत्ताकमिति विशेषतो ज्ञातं भवति तत्कारणमिति कारणविज्ञानेन सर्वविषयकज्ञानादित्यर्थः । स्यात्कारणविज्ञानेन कार्यस्य विज्ञानं प्रतिज्ञातं ब्रह्मसिद्धिस्तु कुतस्तत्राह—प्रधानेति । तदप्रकृतिकानां-प्रधानाकारणकानां चेतनात्मकप्रतिबिम्बानामचेतनकार्यत्वायोगादिति भावः । अशक्यत्वादिति । तथा च प्रधानकारणता पक्षे'सर्वमिदं विज्ञातं भवती'तिश्रुतिविरोधप्रसङ्ग इति भावः । सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया ब्रह्मपरतां द्रढयिष्यन्नाह—ऐतदात्म्यमिति । ऐतदात्मस्वरूपं कारणात्मकमिदं सर्वं तत्कारणं सत्यं त्रिकालाबाध्यं स कारणपदार्थ एव आत्मा जगत्फलभोक्ता । स एव यदि भोक्ता तर्हि

त्वं स आत्मा तत्त्वमसी' ति च तदभेदस्य नवकृत्व उपदेशात्, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूत' इति च श्रुत्यन्तरादचेतनस्य जगत्कारणत्वे विचित्ररचनानुपपत्तेः, प्रधानमहदादेरप्रामाणिकत्वाच्च, न सा-

न्यायरत्नावली।

च सर्वपदसङ्कोचापत्त्या नोक्तरूपश्श्रुत्यर्थ इति भावः। विचित्रेति। यद्यत् विचित्रकार्यं तच्चेतनकर्तृकम् यथा घटरथादिकम्। विचित्रत्वं प्रकृते सावयवत्वम्। वायुक्रियादेश्चेतनाकर्तृकत्वेन निश्चयात् तद्विशेषणम्। प्रधानमहदादेः—ईश्वरानधिष्ठितस्य साङ्ख्याभिमतप्रधानादेः। पुराणभारतादावुक्तं प्रधानादिकं त्वीश्वराधिष्ठितं मिथ्याभूतं श्रुत्यादिसिद्धत्वात् प्रामाणिकमेव। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्, तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति, सोऽकामयते'त्यादिश्रुत्युक्तमायेक्षणकामनानामीश्वरीयाणां प्रधानमहदहङ्कारशब्दैः पुराणादावुक्तत्वात्, अपञ्चीकृतभूतानामेव तन्मात्रत्वेनोक्तत्वाच्च। महदादेरित्यादिपदेन पृथिव्यादीनां

नारायणी।

जीवस्य का गतिस्तत्राह—तत्त्वमसीति। त्वं जीवस्तद्ब्रह्म कारणात्मना प्रतिपादितमित्यर्थः। असिपदं त्वत्र सामानाधिकरण्यमर्यादया प्राप्तस्य दार्ढ्यायेति न व्यर्थमिति दिक्। न केवलं छान्दोग्यश्रुतावेव ब्रह्म जगत्कारणत्वेन प्रतिपाद्यते किन्तु तैत्तिरीयेपीत्याह—तस्माद्वेति। वै निश्चयेन तस्मात्परमात्मनः एतस्माज्जीवात् आत्मनः अनात्मनामधिष्ठानभूतात् जीवपरमात्मनोरभेदरूपाखण्डार्थात्सच्चिदानन्दादिति यावत्, आकाशः शब्दगुणः सम्भूतः उत्पन्नः, वायुः शब्दस्पर्शगुणः, तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणम्, आपः शब्दस्पर्शरूपरसवत्यः पृथिवी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवती। श्रुतिविरोधं प्रदर्श्य तर्कविरोधमाह—अचेतनस्येति। जडस्य प्रधानस्येत्यर्थः। विचित्रेति। गिरिनदीसमुद्रादिसंनिवेशकरणस्यानुपपत्तेः अचेतनस्य चेतनाधिष्ठानं विना स्वतः प्रवृत्त्ययोगादिति भावः। मास्तु निरीश्वरसाङ्ख्यं सेश्वरसाङ्ख्यं तु स्यादेव प्रवर्तकचेतनाङ्गीकारादित्यत आह—प्रधानेति। उभयसाङ्ख्योक्तप्रधानमहदादेरित्यर्थः। अप्रा-

ङ्ख्यमतं साधु । एवं पाशुपतमतं पाञ्चरात्रिकं जैनं (१)त्रैदण्डं च मतं श्रुतियुक्तिबाधितत्वादयुक्तम् । न च

न्यायरत्नावली ।

सुखाद्यात्मकत्वेन हेतुना सुखादिपरिणामयोग्यस्य त्रिगुणात्मककारणस्यानुमानमप्यप्रामाणिकम्, हेत्वसिद्धेः । आन्तरं हि सुखादिकं न पृथिव्यादिरूपम् । एवमित्यादि । पाशुपतमतं तत्त्वमस्यादिश्रुत्या औपाधिकभेदेन व्यवहारभेदसिद्धेः वास्तवभेदो व्यर्थ इत्यादियुक्त्या च बाधितम् । पाञ्चरात्रमतेऽपि जीवानां जन्मादिकं 'अजो नित्य' इत्यादिश्रुत्या कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्गादियुक्त्या च बाधितम् । जैनत्रिदण्डिनोर्मतं 'कूटस्थमवलम्ब्य''एतद्वै तदक्षर'मित्यादिश्रुत्या परिणामित्वेन जन्मनाशाद्यापत्तियुक्त्या च बाधितमित्यर्थः । साङ्ख्यादिमतेषु श्रुत्यादिबाधितत्वोक्त्या मीमांसकमतेऽपि तदुक्तमेव, तथापि तत्राधिकांशमाशङ्क्य निषेधति—न चेत्यादि । तत्त्वमस्यादिश्रु

नारायणी ।

माणिकत्वात्–प्रमाणागोचरत्वात् । न सांख्यमतं साधु-सर्वस्यापि कार्यस्य सुखदुःखात्मकतया प्रतीतेः, सुखादीनां च सत्त्वाद्यात्मकत्वात् सत्त्वादिगुणत्रयकार्यमेव सर्वमिति मतं न साधीयः । पृथिव्यादीनामान्तरसुखाद्यात्मकत्वाऽयोगात्कल्पनाबीजाभावादिति भावः । 'अजामेकामि'त्यादिश्रुतयस्तु परमात्माधिष्ठितानिर्वचनीयमायापरा इति न कोपि विरोध इति दिक् । एवमित्यादि । पाशुपतमतं तत्त्वमस्यादिश्रुत्या औपाधिकभेदेनोपास्योपासकभावसिद्धेर्वास्तवभेदकल्पनं व्यर्थमिति युक्त्या च बाधितम् । पांञ्चरात्रमतेऽपि जीवस्य जन्यत्वोक्तिः 'अजो नित्य' इत्यादिश्रुत्या कृतहान्यकृताभ्यागमप्रसङ्गयुक्त्या च बाधिता । जैनत्रिदण्डिनोर्मतमपि 'कूटस्थमचलं ध्रुवम्''एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमि'त्यादिश्रुत्या, परिणामित्वे कृत्स्नतदेकदेशविकल्पादिप्रसङ्गयुक्त्या च बाधितमतोऽसम्यगेवेत्यर्थः । साङ्ख्यादिमतेषु श्रुतियुक्तिबाधितत्वोक्त्या मीमांसकमतेऽपि तदुक्तमेव तथापि तत्रान्य-

(१) अत्र गघपुस्तकयोः त्रैदण्डमिति नास्ति ।

विधिशेषत्वाच्छ्रुतिर्न ब्रह्म प्रतिपादयतीति मीमांसकमतं युक्तम् । असिद्धत्वाद्विधिशेषत्वस्य । न चार्थवादाधिकरणन्यायाद्विधिशेषत्वम् । वैषम्यात् । स्वतःप्रयोजनवदर्थाप्रतिपादकानां 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते'त्येवमादीनां स्वाध्यायविधिग्रहणान्यथानुपपत्त्या प्रयोजन-

न्यायरत्नावली ।

तिः विहितक्रियाकर्तुस्स्तुतिपरत्वात् न ब्रह्मजीवैक्यपरेत्यर्थः । असिद्धत्वात्—तत्त्वमस्यादिश्रुत्यप्रवृत्तित्वात् । विधिशेषत्वस्य—विहितक्रियाकर्तृस्तुतिपरत्वस्य । स्वतः—विधिवाक्यैकवाक्यतां विना । प्रयोजनवदर्थेति । पुरुषाभिलषितस्वर्गादिसंसृष्टार्थेत्यर्थः । स्वाध्यायविधिग्रहणेति । 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इति प्रयोजनवदर्थज्ञानमुद्दिश्य स्ववेदाध्ययनस्य विधायकं यद्वाक्यं तद्विष-

नारायणी ।

दाशङ्क्य निषेधति—न चेति । विधिशेषत्वात्—विहितक्रियाकर्तृस्तुतिपरत्वात्, श्रुतिः-तत्त्वमस्यादिश्रुतिः, न ब्रह्म प्रतिपादयति-न ब्रह्मगोचरप्रमां जनयति । तत्र तात्पर्याभावादिति भावः । असिद्धत्वात्—तत्त्वमस्यादिव्यावृत्तित्वात्, विधिशेषत्वस्य-विहितक्रियाकर्तृस्तुतिपरत्वस्य । नन्वनुष्ठानोपयोग्यर्थावबोधभाव्यक 'स्वाध्यायो ध्येतव्य' इति स्वाध्यायविधिविषयत्वान्यथानुपपत्त्या 'तत्त्व सो'त्यादिवाक्यानां 'वायुर्वै क्षेपिष्ठे'-त्याद्यर्थवादानामिव विध्यपेक्षितप्राशस्त्यपरत्वेनैव प्रामाण्यमित्यभिप्रायकार्थवादाधिकरणन्यायेन विधिशेषत्वमाशङ्क्य निषेधति—न चेति । अर्थवादाधिकरणन्यायात्-'यजेत स्वर्गकाम'इत्यादिविधिर्विहितार्थे पुरुषं प्रवर्तयितुं प्राशस्त्यज्ञानमपेक्षते प्राशस्त्यज्ञानं च सिद्धार्थबोधकार्थवादादिभ्य इति विधेयार्थवादसाकाङ्क्षा अर्थवादा अपि सिद्धमर्थं वदन्तः स्वाध्यायविध्यापादितप्रयोजनवत्त्वलाभाय विधिसाकाङ्क्षा इति विध्यर्थवादयोर्वाक्यैकवाक्यत्वमित्यर्थवादाधिकरणन्यायात् । वैषम्यमुपादयति—स्वत इति । विध्येकवाक्यतां विना । प्रयोजनेति—पुरुषाभिलषितस्वर्गादिसंसृष्टार्थाप्रतिपादकानाम् । स्वाध्याय इति । स्वाध्यायोऽध्येतव्य इति प्रयोजनवदर्थज्ञानमुद्दिश्य स्वाध्यायाध्ययनस्य विधायकं यद्वाक्यं तद्विषयत्वस्य प्रयोजनवदर्थपरत्वं विनानुपप-

वदर्थपरत्वे कल्पनीये शब्दभावनेतिकर्तव्यतांशसाकाङ्क्षस्य विधेः सम्प्रदानभूतदेवतादिस्तुतिद्वारेण तदंशपूरकत्वान्नष्टाश्वदग्धरथन्यायेन तदुभयैकवाक्यतेत्यर्थवा-

न्यायरत्नावली ।

यत्वेत्यर्थः। शब्दभावनेतिकर्तव्यतांशसाकाङ्क्षस्येति। अंशत्रयविशिष्टार्थभावनारूपसाध्यस्य विधिपदे शब्दभावनावाचकत्वधीरूपस्य साधनस्य च लब्धत्वेन साध्यसाधननिराकाङ्क्षशब्दभावनाया इतिकर्तव्यतासाकाङ्क्षत्वात् (१)अबोधकत्वेन तत्साकाङ्क्षस्येत्यर्थः। विधेः-विधिवाक्यस्य। विहितार्थे पुरुषं प्रवर्तयन्ती प्रवर्तनारूपा शब्दभावना विहितार्थे पुरुषस्य प्राशस्त्यधीरूपां स्वस्येतिकर्तव्यतां आकाङ्क्षत इति भावः। सम्प्रदानभूतदेवतास्तुतिद्वारेणेति । यागकालोच्चार्यमाणचतुर्थ्यन्तपदार्थस्य प्राशस्त्यधीजननद्वारेत्यर्थः। तदंशपूरकत्वात् शब्दभावनायामुक्तधीरूपेतिकर्तव्यताया अन्वयबोधकत्वात्। अर्थवादानां प्रयोजनवदर्थकत्वस्य आवश्यकत्वात् विधिवाक्यापेक्षितप्राशस्त्ये लक्षणास्वीकारात् प्रयोजनवद्देवताप्राशस्त्यादिबोधनद्वारा तत्र(२) प्राशस्त्यादिबोधकत्वं प्रशस्तदेवताकत्वात् प्रशस्तं कर्मेति बोधोत्परया तादृशबोधस्य शाब्दभावनायामन्वयबोधकत्वमिति समु-

नारायणी ।

च्चेरित्यर्थः। शाब्देति। शाब्दभावनाया इतिकर्तव्यतासाकाङ्क्षत्वात्तद्बोधकत्वेन तत्साकाङ्क्षस्य लिङ्लोडादिघटितयजेतेत्यादिवाक्यस्येत्यर्थः। पुरुषं प्रवर्तयन्ती प्रवृत्त्यनुकूलव्यापाररूपा शब्दनिष्ठा भावना विहितार्थे पुरुषस्य प्राशस्त्यज्ञानरूपां स्वरूपस्येतिकर्त्तव्यतामाकाङ्क्षत इति भावः। सम्प्रदानेति। त्यागकालोच्चार्यमाणचतुर्थ्यन्तपदार्थादेः प्राशस्त्यधीजननद्वारेणेत्यर्थः। तदंशेति। शब्दभावनायामुक्तधीरूपेतिकर्त्तव्यताया-मन्वयबोधकत्वात्। नष्टाश्वेति। यथैकस्य दग्धरथस्य जीवद्भिरश्वैरन्यस्य विद्यमानरथस्याविद्यमानाश्वस्य संयोग इति न्यायेन। तदुभयेति।

(१) तद्बोधकत्वेनेति घपुस्तके। (२) कर्मप्राशस्त्येति पाठः घपुस्तके।

दितोऽर्थः ।

ननु शाब्दभावनायामितिकर्तव्यतात्वेन प्राशस्त्यज्ञानस्यान्वयबोध इति यदुक्तं तन्न युक्तम् । प्रवृत्तिभावनात्वेन रूपेणाख्यातादु(१)पस्थापितशब्दभावना नेतिकर्तव्यतामाकाङ्क्षते । कर्तव्यत्वेनावगतस्य व्यापारस्यैव तथात्वात् । अत एव पचतीत्यादौ नार्थभावनापीतिकर्तव्यतापेक्षा ।(२)शाब्दभावनात्वेन तस्य कर्तव्यत्वज्ञानात् । अत एव अध्ययनविधिकल्प्यो लिङ् पुरुषं प्रवर्तयेदिति विधौ लिङ्निष्ठव्यापारस्य शाब्दभावनारूपस्य शाब्दभावनान्तरविषयत्वेन (३)*ज्ञेयत्वात् कर्तव्यत्वेन ज्ञानादितिकर्तव्यतात्वेन तत्र न प्राशस्त्यज्ञानस्यान्वयः । तत्रापि पदसाधुत्वेन अर्थवादानां विनियोगः* । किञ्च 'स्वर्गकामो यजेत'-त्यादौ प्राशस्त्यज्ञानस्य लिङादिपदशक्तिज्ञानस्य पदानुपस्थितस्य कथं शाब्दभावनायामितिकर्तव्यतात्वेन करणत्वेन चान्वयः? इति चेदत्रोच्यते । प्रवृत्तिभावनात्वेनेत्यादिकं यदुक्तं तत्किं वार्तिकादिमूलग्रन्थमूलकं युक्तिमात्रमूलकं वा ? । नान्त्यः । भावनात्वेन रूपेणाख्यातोपस्थाप्यस्य शाब्दभावनान्वयेऽपि तुल्यत्वेनांशत्रयाकाङ्क्षाया युक्तिसिद्धत्वात् । न च प्रवर्तनात्वेनोपस्थितभावनायाः प्रवृत्तिभवनानुकूलव्यापारत्वरूपप्रवर्तनात्वस्य ज्ञातत्वेन न भाव्याकाङ्क्षेति वाच्यम् । प्रवृत्तिमात्रस्य (४)भाव्यत्वेनान्विते पुरुषार्थविशेषरूपभाव्यादिविशेषितरूपेण प्रवृत्तेर्भाव्यतया आकाङ्क्षासम्भवात् विध्यर्थे प्रवर्तयतीति । तथा च भावनाया भवितरीव करणेऽप्या-

(१)—दुपस्थितापि शब्दभावना नेतिकर्तव्यतासाकाङ्क्षा, कतव्यत्वेनेत्यादिः पाठो भिन्नो घपुस्तके ।

(२) शाब्दभावनानतिरिक्तत्वेन तस्याः कर्त्तव्यत्वाज्ञानादिति घपुस्तके ।

(३) *······* चिह्नद्वयमध्यवर्ती पाठो भिन्नो घपुस्तके । तत्रहि *ज्ञेयत्वादिति कर्तव्यतात्वेन तत्र प्राशस्त्यज्ञानस्यान्वयः तत्रापि साधनत्वेनार्थवादानां विनियोगः * ।

(४) भाव्यत्वे निश्चितेपि इति घपुस्तके ।

न्यायरत्नावली।

काङ्क्षायाः स्वारसिकत्वात्, करणविशेषस्य उपकारकविशेषसाकाङ्क्षत्वात्, इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायाः पचतीत्यादावपि आवश्यकत्वात्, तस्याः(१) कर्तृत्वेन धीर्न प्रयोजिका। अत एव भावार्थाधिकरणे—

अस्त्यादावपि कर्त्रंशे भाव्येऽस्त्येव हि भावना।

इत्यादिवार्तिकग्रन्थे 'घटो भविष्यतीत्यादावपि भावना प्रतीयते। तस्याश्चांशत्रयं भवनेनैव प्रपूर्यते। घटस्य भवनं भाव्यम्, कपालस्य (२)तत्करणत्वम्, कपालावयवस्य तदितिकर्तव्यतात्व'मित्युक्तम्। न्यायसुधायां च 'अंशत्रयं विना भावनाया नैराकाङ्क्ष्याभावात् भवनेनैव तत्पूर्यत' इत्युक्तम्। नाद्यः। अर्थवादाधिकरणीयवार्तिकादौ भवत्प्रतिकूलस्यैवोक्तत्वात्। तथा हि—'तेन सर्वेषां मन्त्रादीनां भावनान्तर्गतिरुपपन्ना। यत्तु अर्थवादानां भावनांशत्रयानन्तःपातित्वात् अग्रहणमित्युक्तम्। अत्रोच्यते। सत्यमनन्तर्गतं न गृह्यते। अस्ति त्वन्तर्गतिः। कथम्? लिङादियुक्तेषु वाक्येषु द्वे भावने प्रतीयेते। तत्रार्थात्मिकयार्थवादा न गृह्यन्ते, शब्दात्मिकया तु ग्रहीष्यन्ते। सा ह्येवं प्रवर्तते 'लिङ् पुरुषं प्रवर्तयेदि'ति। केनेत्यपेक्षायां प्रेरणाज्ञानेन। प्रेरणायां लिङ्पदशक्तिज्ञानं(३) वा कथमिति? प्राशस्त्यज्ञानोपकृतेन तेनैव प्राशस्त्यज्ञाने साधनापेक्षायां अर्थवादेनेतिधीः। कुत एतत्? बुद्धिपूर्वकारिणो हि यावत् प्रशस्तोऽयमिति नावबुध्यन्ते, तावत् न प्रवर्तन्त इति'(४)।

(१) कर्तव्यत्वेनेति घपुस्तके।

(२) कपालस्य तत्—कपालस्य भवनं करणत्वम्। घटो भविष्यतीत्यत्र भावनायाः साध्यसाधनेतिकर्तव्यतारूपमंशत्रयं घटादिभवनेन प्रपूर्यते। घटभवनेन साध्यम्, कपालभवनेन साधनम्, कपालिकाभवनेनेतिकर्तव्यता च प्रपूर्यत इति भावः।

(३)—शक्तिज्ञानेन वा इति पाठो घपुस्तके।

(४) तेन सर्वेषामित्यारभ्य प्रवर्त्तन्त इतीत्यन्तो वार्तिकग्रन्थः, अधस्तनीया तु तस्यैव व्याख्या न्यायसुधानामिकेति बोध्यम्।

न्यायरत्नावली।

न्यायसुधानुसारिणी तत्र व्याख्या। भावनान्तर्गतिः—भावनापेक्षितांशत्रयसमर्पकत्वम्। अनन्तःपातित्वात्—अनन्तःपातिप्राशस्त्यबोधकत्वात्। अग्रहणं—विधिवाक्यैकवाक्यत्वाभावः। अनन्तर्गतं—भावनांशत्रयानन्तर्गतबोधकम्। न गृह्यते—न विधिवाक्यैकवाक्यतापन्नम्। अन्तर्गतिः—अर्थवादानां भावनांशत्रयान्तर्गतबोधकत्वम्। लिङादीति—लिङ्लोडादीत्यर्थः। तत्र—लिङादियुक्तसर्ववाक्यप्रतीयमानभावनयोर्मध्ये। अर्थात्मिकया—पुरुषनिष्ठभावनासामान्येन। ग्रहीष्यन्ते—स्वांशबोधकतया अपेक्षिष्यन्ते। अर्थयते कामयते फलमित्यर्थः पुरुषः, तदात्मिका भावना(१)। भट्टमते धर्मधर्मिणोः समवायास्वीकारेण तादात्म्यस्वीकारात्। एवं शब्दात्मिका लिङ्शब्दधर्मत्वात्। अर्थवादानां तादृशापेक्षणीयत्वे (२)अध्ययनविधिना शब्दभावनांशप्राशस्त्यज्ञाने साधनतया विनियुक्तत्वे हेतुमाह—सा हीत्यादि। सा—शब्दभावनामात्रम्। हि—यस्मादेवं प्रवर्तते—वक्ष्यमाणरीत्या (३)अर्थवादसाधितप्राशस्त्यज्ञानरूपेतिकर्तव्यताविशिष्टरूपेण प्रेरणाविषयत्वेन कर्तव्यताया अध्ययनविधिकल्प्यविधिना ज्ञायते। कुत एतदिति? न शब्दभावनायामितिकर्तव्यताकाङ्क्षा, तदविषयत्वेन करणेतिकर्तव्यताविशिष्टार्थभावनयेव प्रवृत्तिसिद्धेः। अथवा भावनान्तरदृष्टान्तेन तस्या अपि सा। तथापि प्रेरणाज्ञानं करणं(४) प्रेरणाशक्तिज्ञानमितिकर्तव्यतास्त्विति। तावत् न प्रवर्तन्त इति। तथाचोक्तविधिना कर्तव्यत्वेन ज्ञायमानासु करणेतिकर्तव्यताविशिष्टसर्वशब्दभावनासु

(१) तदात्मिका भावना अर्थभावनेत्यर्थः। (२) अध्ययनविधिकल्प्यविधिनेति घपुस्तके।

(३) अर्थवादसाधनकप्राशस्त्येति घपुस्तके।

(४) अत्र सर्व पुस्तकेषु प्रेरणाज्ञानं करणमित्यादिपाठमुपलभ्य न परिवर्तनं कृतं तथापि 'प्रेरणाज्ञानकरणं प्रेरणाशक्तिज्ञानम्, इतिकर्तव्यता स्तुतिज्ञानमिति' इति पाठस्यावश्यकता वर्तते।

न्यायरत्नावली ।

करणांशे साधनाकाङ्क्षायां लिङादिपदस्य, इतिकर्तव्यांशे साधनाकाङ्क्षायामर्थवादमात्रस्य विनियोगात् सर्वेषु विधिवाक्येषु सर्वशब्दभावनान्वितं प्राशस्त्यज्ञानम् अर्थवादेन कर्तव्यमिति भावः । एवं च फलस्याविधेयत्वेन साधनेतिकर्तव्यताविशिष्टार्थभावनायामेव विध्यन्वयात् अनुष्ठेयत्वेन प्राशस्त्यज्ञानापेक्षणात् तस्यामेव अर्थवादेन प्रथमं प्राशस्त्यान्वयधीः । ततः पदानुपस्थितायास्तस्या वाक्यार्थबोधे भानासम्भवादर्थवादस्यैव ज्ञाने लक्षणास्वीकारात् प्राशस्त्यान्वितायाः तादृशभावनायाः अर्थवादार्थज्ञाने विषयितासम्बन्धेनान्वयात् तादृशभावनाविशेष्यकप्राशस्त्यप्रकारकज्ञानस्य लाभः । 'नीलस्य वस्त्रविशिष्टचैत्रस्य ज्ञानमि'त्यादौ वस्त्रविशिष्टचैत्रविशेष्यकनीलप्रकारकभानलाभव-(१)त्तस्य ज्ञानस्येतिकर्तव्यतात्वेन प्रेरणायामन्वयः । एवमर्थवादस्य लिङादेर्वा लाक्षणिकार्थज्ञाने लिङर्थप्रेरणार्थान्वयात् प्रेरणाज्ञानस्य करणत्वेन तस्यामन्वयः । प्रेरणाशक्तत्वज्ञानस्य करणत्वपक्षे तु प्रेरणायास्स्वशक्तिविषयकत्वसम्बन्धेन ज्ञानेऽन्वयः । अन्यथा शक्त्यंशे लक्षणापत्तेः । गीताटिप्पण्यां तु पदानुपस्थितस्यापि ज्ञानादेर्वाक्यार्थस्य भानमध्ययनविधिगृहीततात्पर्यानुरोधात् । उक्तं हि वार्तिके उद्भिदधिकरणे–'पदानुपस्थितस्यापि नामधेयस्यान्वयधीरनुपस्थितविशेषणविशिष्टधीः न जायते नत्वनभिहितविशेषणेति' । ननु प्राशस्त्यज्ञानस्य नेतिकर्तव्यतात्वेन यजेतेत्यादौ प्रेरणास्वन्वयः किन्तु जनकत्वेनार्थभावनायाम् तस्य जनकत्वेन तद्विशिष्टप्रेरणायां जनकत्वसम्भवात् । गुणवादस्त्विति सूत्रस्थवार्तिके 'आलभेत प्रशस्तत्वादि'त्यन्वयधीप्रकारस्य दर्शितत्वादिति चेन्न । तत्र हि वार्तिके पञ्चम्या न(२)

(१) लाभवत् ततस्तस्येति घपुस्तके । (२) न जनकहेतुत्वमर्थ इति घपुस्तके ।

न्यायरत्नावली।

जनकत्वमर्थः। 'सत्यमनन्तर्गतं न गृह्यते, अस्ति त्वन्तर्गति' रित्याद्युक्तवार्तिके भावनांशप्रतिपादकत्वेनैवार्थवादानां प्रामाण्योक्तेः (१)विध्यर्थवाददूषणवार्तिकानां प्रशस्तत्वादित्यस्य शब्दभावनेतिकर्तव्यतापरत्वस्य दर्शितत्वात्। कुत एतदित्युक्तवार्तिकव्याख्याने,हेत्वधिकरणीये 'याप्यर्थवादाकाङ्क्षे'त्यादिवार्तिकव्याख्याने च न्यायसुधायामितिकर्तव्यता(२)त्वेनान्वयस्य स्पष्टमुक्तत्वाच्च। किन्तु प्राशस्त्यज्ञानज्ञाप्यत्वमेकप्रेरणानिष्ठम्। तथा च प्रेरणाज्ञानस्य प्राशस्त्यज्ञानोपकार्यत्वलाभात् प्रेरणां प्रति करणोपकारकत्वरूपमितिकर्तव्यतात्वं लब्धमिति सिद्धं नस्समीहितम्। न च व्याप्यतया ज्ञापकत्वमेव पञ्चम्यर्थः, प्राशस्त्यं च (३)व्याप्यतया न ज्ञापकम्, न वा तथा ज्ञापकतया बोधेन समीहितासिद्धिरिति वाच्यम्। प्रेरणाज्ञानं प्रत्युपकारकत्वरूपं प्रेरणेतिकर्तव्यतात्वं बोद्धव्यमिति प्रकृते समीहितम्। तदुपकारकत्वं च तत्फलप्रवृत्त्युत्पादकत्वम्। तथा चैकस्मिन् प्रवृत्तिरूपे फले प्रेरणाज्ञानप्राशस्त्यज्ञानयोः हेतुत्वात्, स्वज्ञानजन्यत्वरूपस्वप्रयोज्यत्वसम्बन्धेन प्रवृत्तयोस्सत्त्वात्, प्रवृत्तिनिष्ठेन तादृशसम्बन्धेन व्याप्यव्यापकभावस्य प्राशस्त्यप्रेरणयोस्सम्भवात् प्रेरणां प्रति तादृशव्याप्यतया ज्ञापकत्वस्येतिकर्तव्यतात्वपर्यवसितत्वात्, तत्प्रतिपादनमस्मत्समीहितम्। किञ्च 'अस्माच्छब्दादयमर्थो न तु मानान्तरादि'त्यादिप्रयोगे प्रमाणान्तरादिविधया ज्ञापकत्वस्यापि पञ्चम्या बोधनात् व्याप्यविधयैव ज्ञापकत्वं तदर्थ इति न नियमः। तथा प्रेरणां प्रति (४)तज्ज्ञानम्। सहकारिज्ञानविषयत्वरूपज्ञाप-

(१) विध्युत्खातवाददूषणवार्तिकादौ प्रशस्तेति घपुस्तके।

(२)—कर्तव्यतात्वेन प्राशस्त्यज्ञानान्वयस्य इति घपुस्तके।

(३) व्याप्यतया न तज्ज्ञापकं न वा तथा ज्ञापकतया बोधने समीहितेति गपुस्तके।

(४) तज्ज्ञानसहकारीत्यादिः घपुस्तके पाठः युक्तश्च।

न्यायरत्नावली।

कत्वमपि प्राशस्त्यनिष्ठं पञ्चम्यर्थः। तस्माद्विधिवाक्यमात्रे प्राशस्त्यज्ञानस्य प्रेरणायामितिकर्तव्यतात्वेनान्वय इति वार्तिकादिमूलसिद्धं भवत्येव। उपाध्यायादिप्राचीनग्रन्थेषु (१)कौस्तुभादिनवीनग्रन्थेषु चार्थवादाधिकरणे तथैवोक्तम्। ननु शब्दभावना मुख्यविशेष्यतया विधिवाक्यार्थबोधे भाति, अर्थभावना वा? आद्ये—

'भावनैव हि वाक्यार्थः सर्वत्राख्यातवत्तया।
अनेकगुणजात्यादिवाक्याद्यर्थानुरञ्जिता॥

इति (२)उद्भिदधिकरणीयवार्तिकविरोधः। तत्र हि आख्यातसामान्यार्थभूताया नानागुणजात्यादिकारकविशिष्टाया वाक्यजन्यधीमुख्यविशेष्यत्व(३)रूपवाक्यार्थत्वमुक्तम्। न तु शब्दभावना आख्यातसामान्यार्थः। न वा जात्यादिकारकविशिष्टा। नान्त्यः। अर्थभावनादिकारकेषु शब्दभावनाया विशेष्यत्वस्यैवोचितत्वादिति चेत्। अत्रोच्यते। आद्य एव पक्षो युज्यते। न चोक्तवार्तिकविरोधः। अर्थभावनायाः शब्दभावनां प्रति कर्मत्वेऽपि स्वकारकाणि प्रति विशेष्यत्वस्य वार्तिकोक्तस्यानपायात्। अत एव 'प्रधानभावनायामङ्गभावनानामितिकर्तव्यतात्वेने'ति तन्त्ररत्ने एकादशे उक्तम्। अत एव 'पश्य मृगो धावती'त्यादौ मृगा धावन्तीति वाक्यार्थस्य दर्शनकर्मतया विशेषणत्वमिति महाभाष्ये उक्तम्। (४)तार्किकादिभिरपि तादृशविशेषणत्वं स्वीक्रियते एव। एतावांस्तु विशेषः। यद्वैयाकरणमते धावनादिधात्वर्थ एव मृगादिविशेषित उक्तवाक्यार्थः। तार्किकादिमते धावनभावनाविशिष्टप्रथमान्तनामार्थो मृगादिरेव। मीमांसकमते तु धावनकरणत्वादिविशिष्टभावनैव दर्शनकरणकभावनायामेव तस्यां कर्म-

(१) कौस्तुभादिनवीनग्रन्थेष्विति पाठो नास्ति गपुस्तके।

(२) तद्भूताधिकरणीयवार्तिकेति घपुस्तके।

(३) मुख्यविशेष्यत्वमुक्तमिति गपुस्तके। (४) वार्तिकादिभिरिति गपुस्तके।

न्यायरत्नावली।

त्वेन विशेषणमिति । यत्तु प्रेरणायां कर्तव्यताधीर्न सर्वानुभवसिद्धेति, तन्न। प्रवर्तकं ज्ञानं विधिवाक्यजन्यमिति हि सर्ववादिसिद्धम्। तच्च ज्ञानं मीमांसकमते यागादेः आप्तप्रेरणाविषयत्वम् इष्टसाधनतां विना अनुपपन्नमित्येवंरीत्या इष्टसाधनताक्षेपद्वारा प्रवर्तकं प्रेरणाविषयकम्। लोके राजगुर्वाज्ञादिप्रेरणाज्ञानस्य तादृशप्रवर्तकतया क्लृप्तत्वात्। इष्टसाधनतैव विध्यर्थः न तु प्रेरणेतित्वादिनां तत्र सम्मतिस्तु नोपयुज्यते। न हि सर्ववादिसम्मतो विध्यर्थोऽस्त्येकः। तथा च प्रवृत्तिभावनारूपप्रेरणायाः भावनास्वाभाव्येन अंशत्रयान्वयित्वं तन्मते (१)अनुभवारूढमेव। भावनात्वेनोपस्थिते अंशत्रयान्वयित्वमिति हि वार्तिकादौ प्रदर्शितम्। तस्मात्साधूक्तं शब्दभावना इतिकर्तव्यतांशसाकाङ्क्षेति। ननु किमिदं प्राशस्त्यम्? (२)सगुणत्वं चेत्, तस्य एकरूपस्य दुर्वचत्वेन अर्थवादानां नानार्थत्वापत्तेः, तज्ज्ञानस्य प्रवृत्तावनुपयोगाच्चेति चेन्न। बलवदनिष्टाजनकत्वस्यैव प्राशस्त्यरूपत्वात्। ननु अनुष्ठानश्रमरूपानिष्टजनकत्वात् यागादौ तद्बोधनासम्भवः। पापरूपानिष्टजनकत्वाभावस्य तद्रूपत्वे तद्बोधनस्य अप्रसक्तप्रतिषेधापत्तेः। न हि यागादेः पापजनकत्वं प्रसक्तम्। 'नैव सर्पं स्पृशेदि' ति लौकिकनिषेधशेषस्य मृत्युरयामित्यादिनिन्दार्थवादविशेषस्य अप्रामाण्यापत्तेः, तेन पापजनकत्वबाधस्यावाच्यत्वादिति(३) चेन्न। यत्र प्राशस्त्यं बोध्यं तज्जन्येष्टाद्धिकं यदनिष्टं तदजनकत्वस्य प्राशस्त्यरूपत्वात्। न चैवमपि अप्रसक्तप्रतिषेधापत्तिः। श्रमादिरूपानिष्टजनके यागादौ उक्ताजनकत्वरूपस्य श्रमादिनिष्ठे उक्ताधिकत्वाभावे पर्यवसानात्।

(१) अनुभवरूपमेवेति घपुस्तके। (२) न गुणवत्त्वम्, तस्यैकरूपस्येति घपुस्तके।
(३)—दिति वाच्यम् इति घपुस्तके।

दाधिकरणे निर्णीतम् । वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानाच्च साक्षादेव परमानन्दप्राप्तिर्निश्शेषदुःखनिवृत्तिश्च पुरुषार्थो लभ्यते इति निराकाङ्क्षत्वान्नान्यशेषत्वसम्भावना, प्रत्युत विधय एव अन्तःकरणशुद्धिद्वारा तच्छेषतां भज-

न्यायरत्नावली ।

घटवति' नीलघटो नास्ती'त्यभावस्य घटनिष्ठनैल्याभावे पर्यवसानात् । उक्ताधिकत्वं च यागादिजन्येष्टापेक्षया बहुत्वं बहुकालव्यापकत्वं तादृशेष्टसाक्षात्कारविरोधिजातिविशेषवत्त्वादिरूपं च । तदाश्रयजनकत्वज्ञानस्य प्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वात् तदभावकूटमर्थवादेन बोध्यत इति दिक् । अर्थवादेभ्यः 'तत्त्वमसी'त्यादिश्रुतेः वैषम्यमाह—वेदान्तेति । विधयः-दर्शादिविधायकवाक्यानि । शुद्धिद्वारा—'विविदिषन्ति यज्ञेने'त्यादिश्रुत्या तत्त्वज्ञानप्रतिबन्ध-

नारायणी ।

विध्यर्थवादयोः परस्पराकाङ्क्षितार्थबोधजनकता अर्थवादानां प्रयोजनवदर्थकत्वस्यावश्यकत्वाद्विधिवाक्यापेक्षितप्राशस्त्ये लक्षणाङ्गीकारात् प्रयोजनवद्देवताप्राशस्त्यद्वारा कर्मप्राशस्त्यबोधकत्वं प्रशस्तदेवताकत्वात्प्रशस्तं कर्मेति बोधोत्तरत्या तादृशबोधस्य शाब्दभावनायामन्वयबोधकत्वमिति समुदायार्थः। स्वतः प्रयोजकत्वाभावमेव विध्यैकवाक्यत्वे बीजं वदतो मीमांसकस्य तत्प्रयोजनपराणामप्युपनिषदां विध्येकवाक्यत्वकल्पनं मान्द्यप्रयुक्तमिति ज्ञापयन्नतिवैषम्यमाह—वेदान्तेति । तत्त्वमस्यादिमहावाक्यजन्याखण्डार्थबोधाच्चेत्यर्थः । साक्षात्-अदृष्टमद्वारीकृत्य, परमानन्दप्राप्तिः-परिपूर्णानावृतानन्दप्राप्तिरित्यर्थः । आवरणनाशे स्वप्रकाशानन्दात्मनावस्थितिरिति यावत् । निःशेषेति समूलेत्यर्थः । दुःखनिदाननिवृत्तितयैवावरणनाशस्य साक्षात्कारफलत्वात् दुःखाभावोऽपि स्वतः पुरुषार्थ एवेति भावः। निराकाङ्क्षत्वात्-विधिवाक्याकाङ्क्षारहितत्वात् । नान्येति । न विहितक्रियास्तुतिपरत्वसम्भावनापि । अपिशब्दादसङ्गतत्वादिप्रतिपादकवाक्यानां कर्मणि प्रवृत्तिप्रतिबन्धकानां विधिशेषत्वसमर्थनं स्वाज्ञानख्यापनायैवेति ध्वनितम् । नोत्तरकाण्डस्य पूर्वकाण्डैकवाक्यत्वेन प्रामाण्यं किन्तु प्रथमभूमिप्रतिपादकस्य कर्मकाण्डस्यैवोत्तरभूमिप्रतिपादकोपनिषद्वाक्यैकवाक्यत्वेन प्रामाण्यमित्यभिप्रेत्याह—प्रत्युतेति । विधयः—

न्त इति। तस्मात्प्रयोजनवदबाधिताज्ञातज्ञापकत्वेन वेदान्तानां स्वत एव प्रामाण्यादस्त्येव ब्रह्मेति न मीमांसकमतसिद्धिः। तार्किकादीनां च मतं 'तत्त्वमस्यहं ब्रह्मास्मि अयमात्मा ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' त्या-

न्यायरत्नावली ।

कपापनाशनद्वारा तत्त्वज्ञानसाधनत्वेन विहितानां कर्मणामुत्पत्तिप्रयोगविधानद्वारा। तच्छेषतां—वेदान्तवाक्योपकारकताम् । स्वत एव—अन्यशेषतां विना । ब्रह्म—जीवाभिन्नं ब्रह्म। अथवा मास्तु 'तत्त्वमस्यादिश्रुतेः कर्तृस्तुतिपरत्वं ब्रह्माभिन्नत्वेन जीवोपासनापरत्वं तु स्यात् तत्राह—तस्मादिति । यथाश्रुतवाक्यार्थज्ञानादेव परमपुरुषार्थलाभादित्यर्थः । स्वत एवेति । इत्युपास्वेति पदयोः कल्पनां विनैव । प्रामाण्यात्—प्रामाण्यसम्भवात् । श्रुतहान्यश्रुतकल्पनापत्तेः दृष्टद्वारकपुरुषार्थसाधनधीपरत्वसम्भवे अदृष्टद्वारा तादृशधीपरत्वकल्पने गौरवाच्च नोपासनापरत्वमिति भा-

नारायणी ।

विधिवाक्यानि, अन्तःकरणशुद्धिद्वारा—ज्ञानप्रतिबन्धकपापनिवृत्तिद्वारा, तच्छेषतां—वेदान्तवाक्यगौणार्थताम्, 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेने'ति श्रुतेरिति भावः। मीमांसकमतनिरासमुपसंहरति—तस्मादिति। अर्थवादाधिकरणन्यायविषयत्वनिरासात् विपरीताङ्गाङ्गीभावस्यैव लाभाच्चेत्यर्थः । प्रयोजनेति । निरुक्तप्रयोजनवत्कालत्रयाबाधितं प्रमाणान्तरानधिगतं यद्ब्रह्म तद्विषयकप्रमाजनकत्वेन । स्वत एव-विध्येकवाक्यतां विनैव, प्रामाण्यात्—निश्चितप्रामाण्यात्। तार्किकादीनामित्यादिपदाद्वैशेषिकबौद्धादिपरिग्रहः, तदुच्छिष्टभुङ्माध्वादिपरिग्रहश्च। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्यादिना 'तत्त्वमेव त्वमेवतत्,

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोहं सदाशिवः ॥

इत्यादिवाक्यपरिग्रहः । अनेन जीवेश्वरभेदनिरासः उपासीतेति पदकल्पनाविरोध्यसिपदादिघटितत्वात् । किञ्चनेत्यादिना 'अथातो नेति-नेती'त्यादिश्रुतिपरिग्रहः। अनेन भूतभौतिकादेः सत्यत्वनिरासः । स्वा-

दिश्रुतिबाधितम् । 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चने'त्यादिश्रुतिबाधितं च । (१)भिन्नाभिन्नत्वं क्षणिकत्वं च 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य' इत्यादिश्रुतिबा-

न्यायरत्नावली ।

धः । इत्यादिश्रुतीत्यादिना प्रपञ्चमिथ्यात्वबोधकश्रुतिसङ्ग्रहः । भिन्नाभिन्नत्वं प्रपञ्चब्रह्मणोः सत्यभेदाभेदौ । क्षणिकत्वं क्षणमात्रस्थायिज्ञानरूपत्वम् , ब्रह्मण इति शेषः । 'ऐतदात्म्यमिदं सर्व'मिति श्रुतौ एतत्सद्रूपं ब्रह्मैव आत्मा स्वरूपं यस्य, तादृशम् । स्वार्थे ष्यङ्प्रत्ययः । तथा च ब्रह्मैव प्रपञ्चस्य स्वरूपं तदन्य-

नारायणी ।

धिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगित्वबोधनात् दुग्धजलयोरिव भेदाभेदावेव जगज्जीवपरमात्मनाम्—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।

इत्यादिवाक्यैरिति त्रैदण्डमतं निराकरोति — एक इति । शेषभागः—

सर्वव्यापीसर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च ॥

इतिश्रुत्या बाधितं भिन्नाभिन्नत्वमित्यन्वयः । श्रुत्यर्थस्तु दीव्यतीति देवः स्वप्रकाशः । एतेन देहादीनामात्मत्वं निराकृतं तेषामस्वप्रकाशत्वात् । स्वप्रकाशोऽपि प्रतिदेहं भिन्न इति साङ्ख्यमतनिरासायाह–एक इति । सजातीयभेदरहित इत्यर्थः । नन्वेकस्मिन्देह एक एवास्तु तत्राह–सर्वेति । सर्वशरीरेष्वेक एवेत्यर्थः । ननु तर्हि 'पादे मे दुःखं शिरसि मे सुखमि'तिवत् 'चैत्रे मे सुखं मैत्रे मे दुःखमि'ति कुतो न भासते तत्राह–गूढ इति । अविद्ययाऽऽवृत इत्यर्थः । ननु 'इहैवास्मि सदने जानान' इति प्रतीत्या प्राप्तपरिच्छेदभावस्य कथं सर्वभूतेषु स्थितिः तत्राह–सर्वव्यापीति । तादात्म्येन स्वविवर्तानुस्यूत इत्यर्थः । ननु सर्वव्यापित्वे भेद एव प्राप्तः, व्यापकताप्रयोजकोपादानोपादेयभावस्य भेदगर्भितत्वात्तत्राह–सर्वभूतेति । सर्वभूतानां सत्ताप्रद आत्मेत्यर्थः । तथा च जगतः स्वतः सत्ताकत्वाभावेन व्यापित्वादेरपि प्रतीतिमात्रशरीरत्वान्न तन्निबन्धनो भेदो वास्तव इति भावः, कर्माध्यक्षः कर्मप्रवर्तक इत्यर्थः, सर्व-

(१) 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ' इति भिन्नाभिन्नत्वमिति कखपुस्तकयोर्नारायण्यां च ।

धितम्। अत्र सर्वेषां मतस्यासत्त्वे प्रतिज्ञाते विशुद्धात्मकत्वादिति हेतुः। निर्विकल्पाद्वितीयचैतन्यरूपत्वादित्यर्थः। अत्र हेतुः-विशिष्टानुभूत्येति। विशिष्टा सविकल्पकानुभूतिभ्यो व्यावृत्ता या तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्याखण्डानुभूतिस्तयेत्यर्थः। तेन सर्वव्यापकमद्वितीयं परमानन्दबोधरूपं च ब्रह्मेति सिद्धम् ॥ ४ ॥

ननु 'स य एषोऽणिमा, अणोरणीयानि'ति ब्रह्मणोऽणुत्वश्रुतेः 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः, आराग्रमात्रो ह्यवरोऽ-

न्यायरत्नावली।

न्मिथ्यैवेति बोधनात् कुत उक्तभेदाभेदाविति भावः। मतस्य—सम्मतत्वस्य। असत्त्वे—ब्रह्मनिष्ठाभावे। ब्रह्मणि पक्षे सर्वसम्मतरूपत्वाभावे साध्ये इति यावत्। तत्त्वमस्यादीत्यादिपदेन 'एकमेवाद्वितीयमित्या'दिवाक्यस्य द्वितीयाभावादिविशिष्टे ब्रह्मण्यवान्तरतात्पर्यस्वीकारादद्वितीयत्वादिसिद्धेरिति भावः॥ ४ ॥

अङ्गुष्ठेत्यादि। 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठ-

नारायणी।

भूताधिवासःसकलप्रपञ्चाधिष्ठानम्, साक्षी सर्वावभासकः, चेताः स्वप्रकाशकचिद्रूपः, केवलः निर्धर्मकः, निर्गुणः स्वरूपातिरिक्तगुणशून्यः। तथा च शुक्तिव्यतिरेकेण जगतोऽसत्त्वान्न तदभिन्नाभिन्नत्वमात्मनो युक्तमिति भावः। क्षणिकत्वं क्षणमात्रस्थायिज्ञानरूपत्वं ब्रह्मण इति शेषः। इत्यादिना 'नित्यो नित्याना'मिति श्रुतिपरिग्रहः। अत्र च श्लोके सर्वेषां मतस्य-साङ्ख्यादीनां मतस्य, असत्त्वे-असमीचीनत्वे, अखण्डानुभूतिः-संसर्गागोचरधीः। श्लोकार्थमुपसंहरति—तेनेति। उदाहृतश्रुतियुक्तिभिर्वादिविप्रतिपत्तिनिरासेनेत्यर्थः। (सर्वव्यापकम्) सर्वव्यापकत्वोपलितम्। अद्वितीयं-द्वितीयाभावोपलक्षितम् परमानन्दबोधरूपं-नित्यानन्दचिद्रूपं चकारात्सद्रूपम्। अखण्डार्थोपपत्तिस्त्वस्मत्कृतमहद्व्याख्यानेऽनुसन्धेया॥ ४ ॥

पञ्चमश्लोकमवतारयति—नन्वित्यादिना। अणिमा-अत्यणुः। अणोः-परमाणोः अणीयान् अणुतरः। अङ्गुष्ठ इति स्पष्टम्। आरा लोहशलाका।

पि दृष्ट' इत्यादिश्रुतिप्रतिपादि(१)ताणुत्वविशिष्टजीवाभिन्नत्वाच्च न ब्रह्मणः सर्वव्यापकत्वमित्याशङ्क्य 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्, तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्य'मित्याद्याः श्रुतयो निर्विशेषमेव ब्रह्म प्रतिपादयन्तीति पूर्वोक्तमेव द्रढयन्नाह—

न चोर्ध्वं न चाधो न चान्तर्न बाह्यं
न मध्यं न तिर्यङ् न पूर्वापरा दिक् ।
वियद्व्यापकत्वादखण्डैकरूप-
स्तदेकोऽवशिष्टश्शिवः केवलोऽहम् ॥ ५ ॥

न्यायरत्नावली ।

ति । ईशानो भूतभव्यस्ये' ति श्रुत्याऽङ्गुष्ठमात्रशब्दितजीवस्य सर्वेश्वरत्वम्, 'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्ट' इति श्रुतौ नास्ति परो महान् यस्मात्तादृशत्वमाराग्रपरिमितस्य जीवस्योक्तम्। आरा—लोहशलाका, अपूर्वं—कारणभूतादिशून्यम्, अनपरं—कार्यभूताकाशादिशून्यम्। अनन्तरमबाह्यम्—अन्तरबाह्यशून्यम्, अपरिच्छिन्नमिति यावत्। न चोर्ध्वमित्यादि। मयि ऊर्ध्वादिकं येन सम्बन्धेन प्रसक्तं तेन सम्बन्धेन नास्ति। वियद्व्यापकत्वात्—येन

नारायणी ।

अवरोपि जीवोऽपि। अपिशब्देनान्तःकरणसमुच्चयः। ब्रह्मैवेदमिति। इदं नामरूपात्मकं पुरस्तात्पुरतः प्रसृतं भासमानम् अमृतं सच्चिदानन्दात्मकं ब्रह्मैवेत्यर्थः। एवमग्रेऽपि। अपूर्वं कारणरहितम्, अनपरं कार्यरहितम्, अनन्तरं भेदकधर्मशून्यम्, अबाह्यं—कालादिरूपोपाधिशून्यम्, अपरिच्छिन्नमिति यावत्। न चोर्ध्वमित्यादिकस्य येन सम्बन्धेनोर्ध्वादिकं प्रसक्तं तेन नास्तीत्यर्थः। वियद्व्यापकत्वादिति। यथा संयोगेन वियत् व्यापकं तथाऽऽत्मापि तादात्म्येन व्यापक इत्यर्थः। सर्वगतश्चेत्यत्र

(१)—तणुजीवाभिन्नेत्यादिर्गपुस्तके पाठः।

वियद्व्यापकत्वात्, 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य' इति श्रुतेः। वियतो व्यापकत्वादिति वा, 'ज्यायानाकाशान्महतो महीया'नित्यादिश्रुतेः । जीवस्यापि (१)सकलदेहव्यापिचैतन्योपलब्ध्या महत्त्वेऽपि उपाधिधर्माध्यासेनारा-

न्यायरत्नावली ।

केनापि सम्बन्धेन वियद्यथा सर्वत्र व्यापकं तथा तादात्म्येनात्मा । चकाराः विजीतायान्तरस्य सजातीयधर्मस्य च समुच्चायकाः । तस्मादेकोऽहमित्यर्थः । येन केनापि सम्बन्धेन व्यापकत्वमादाय दृष्टान्तत्वे पृथिव्यादेरपि दृष्टान्तत्वसम्भवात् असामञ्जस्यम् । संयोगेन वियद्यथा सर्वव्यापकं तथा तादात्म्येनात्मापीत्युक्तेऽपि दृष्टान्तासङ्गतिः, सर्वप्रपञ्चनिषेधरूपस्य साध्यस्य वियति परेणास्वीकारात्, ऊर्ध्वादिनिषेधमात्रे साध्ये तदेकः केवलोऽहमिति उपसंहारानुपपत्तिः अत आह—वियतो व्यापकत्वादिति । अपरिच्छिन्नत्वादित्यर्थः । तथा च भेदादिरूपसर्वपरिच्छेदाभावस्य सर्वभेदाद्यभावं प्रति हेतुत्वं युक्तमेवेति भावः । सकलदेहव्यापिचैतन्येति । हस्तपादाद्यवच्छेदेन युगपज्ज्ञायमाननानासुखदुःखादिव्यक्तितादात्म्यापन्नचैतन्येत्यर्थः । उपाधिधर्मेति ।

नारायणी ।

चकारोऽनुक्तसमुच्चायकः यस्मादाकाशवत्सर्वदोषातीतश्च परमात्माऽत एकोहमिति भावः । आकाशस्य सिद्धान्ते आपेक्षिकव्यापकत्वात् तद्वद्ब्रह्मणोऽप्यव्यापकत्वे वस्तुतोऽनित्यत्वमपि स्यादित्यतोर्थान्तरमाह—वियद्व्यापकत्वात्-(२)*वियद्व्यापकत्वात्, 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य' इति श्रुतेः, वियतो व्यापकत्वादिति वा *तत्र हेतुमाह—ज्यायानिति । स्पष्टम् । सकलेति । 'पादे मे सुखं शिरसि मे वेदने'ति युगपन्नानावयवावच्छेदेन सुखदुःखाद्यवभासकचैतन्यानुभवेनेत्यर्थः । उपाधीति । मनोनिष्ठाराग्रमात्रत्वाध्यासेनेत्यर्थः । मनसः संकोचविकासशीलत्वात्

(१) जीवस्य महत्त्वेपि सूक्ष्मत्वाभिप्रायेणाणुत्वव्यपदेशादित्यन्वयः ।

(२) *...* चिह्नितः पाठो नास्ति कपुस्तके ।

ग्रमात्रत्वाभिधानात्, 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्ट' इति श्रुतेः। ब्रह्मणश्च (१)सूक्ष्मत्वाभिप्रायेण अणुत्वव्यपदेशात्। शेषमतिरोहितार्थम् ॥ ५ ॥

ननु ब्रह्मणो जगदुपानत्वादुपादानोपादेययोश्चाभेदाद्विचित्रजगदभिन्नत्वेन(२) ब्रह्मणः दुःखरूपत्वात् न तदभिन्नत्वेन जीवस्य परमपुरुषार्थप्राप्तिरित्याशङ्क्य ब्रह्मणः स्वप्रकाशपरमानन्दरूपत्वान्निखिलजगद्भ्रमाधिष्ठानत्वेन कारणत्वव्यपदेशादध्यस्तेन च समं सम्बन्धाभा-

न्यायरत्नावली।

मनोनिष्ठाराऽग्रमात्रत्वेत्यर्थः। मनसस्सङ्कोचविकासशालित्वेन कदाचित्तदस्तीत्यर्थः। बुद्धेरित्यादि। आत्मगुणत्वेन अवरः अपरिच्छिन्नोऽपि बुद्धिगुणेनाराग्रमात्र इत्यर्थः। सूक्ष्मत्वेति। दुर्विज्ञेयत्वेत्यर्थः ॥ ५ ॥

महदादिवाचकशब्दपूर्ववृत्तित्वेन कुब्जशब्दस्याणुपरिमाण-

नारायणी।

कदाचिन्मनसः आराग्रमात्रत्वसम्पत्त्या तदुपाधिकस्यात्मनोऽपि तदा तदस्तीति भावः। बुद्धेरिति। आत्मनो गुणेनावरोऽपि बुद्धेर्गुणेनाराग्रमात्रो दृष्ट इत्यन्वयः। अवरः न विद्यते वरो महान्यस्मादित्यपरिच्छिन्नः। दुर्लक्ष्यत्वेति-लौकिकप्रमाणागोचरेत्यर्थः ॥ ५ ॥

षष्ठं पद्यमवतारयति—नन्विति। अभेदात्-मृद्धटयोरिव तादात्म्यात्। विचित्रेति। सुखदुःखमोहमयप्रपञ्चाभेदेन। परमेति। निरतिशयसुखप्राप्तिः। उपादानोपादेयभावेऽपि शुक्तिरजतादाविवाध्यासिकाभेदस्यैवाङ्गीकारेणाधिष्ठानस्य ब्रह्मणो गुणदोषाप्रसक्तेर्न ब्रह्माभिन्नजीवस्य पुरुषार्थहानिरित्यभिप्रेत्य समाधत्ते—ब्रह्मण इत्यादि। कथं तर्हि कारणत्वोक्तिस्तत्राह-भ्रमेति। भ्रमकारणीभूताऽज्ञानविषयत्वेन। तावता किं तत्राह—अध्यस्तेनेति। सम्बन्धाभावात्- धर्मिसमसत्ताकसम्बन्धाभावात्, अनर्थले-

(१) दुर्लक्ष्यत्वाभिप्रायेणेति कपुस्तके।

(२)—दभिन्नत्वनैव जीवस्य परमपुरुषार्थप्राप्तिरिति कपु०।

वान्न तत्रानर्थलेशोऽप्यस्तीत्याह--

न शुक्लं न कृष्णं न रक्तं न पीतं
न कुब्जं न पीनं न ह्रस्वं न दीर्घम् ।
अरूपं तथा ज्योतिराकारकत्वा-
त्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ६ ॥

कुब्जम्—अणु । पीनं-महत् । तेनाणु महत् ह्रस्वं दीर्घमिति चतुर्विधपरिमाणनिषेधात् द्रव्यत्वप्रतिषेधः । रूप्यत इति रूपं प्रमेयम् । (१)न प्रमेयमरूपम् । तेन सर्वेषामेव द्रव्यगुणकर्मादिपदार्थानां तत्तद्वाद्यभ्युपगतानां निषेधः । तथा च श्रुतयः—'अस्थूलमनणवह्रस्वमदीर्घमलोहित'-

न्यायरत्नावली ।

वाचकत्वमित्याशयेनाह—कुब्जमणिवति । रूपतादात्म्यस्य रूपाधारत्वस्य च न शक्यमित्यादिनैव निषेधसम्भवादाकाङ्क्षिताद्वितीयत्वप्रतिपादनस्य युक्तत्वाच्चाह—रूप्यत इत्यादि । रूप्यते-चिता भास्यते । प्रमेयं-चिद्भास्यम् । द्रव्यादेरिव तद्विशिष्टस्यापि प्रमेयत्वात् प्रमेयभेदोक्त्या द्रव्यादिवैशिष्ट्यात्यन्ताभावोऽपि लभ्यत इत्याशयेनाह--नेत्यादि । निषेधः-भेदात्यन्ताभावयोर्लाभः । अस्थूलमित्यादौ स्थूलादेर्भेद इवात्यन्ताभावोऽपि

नारायणी ।

शोऽपि-अध्यासकृतगुणदोषसम्बन्धोपि । महदादिवाचकशब्दपूर्ववर्तित्वेन कुब्जशब्दस्याणुवाचित्वमित्याशयेनाह—कुब्जमिति । रूपतादात्म्यस्य रूपाधारत्वस्य च 'न शुक्ल'मित्यादिनैव निषेधसम्भवादाकाङ्क्षिताद्वितीयत्वप्रतिपादनस्य युक्तत्वाच्चाह-रूप्यत इति । रूप्यते-साक्षिणा भास्यते, प्रमेयं-चिद्भास्यम्, द्रव्यादेरिव तद्विशिष्टस्यापि प्रमेयत्वात्तद्भेदोक्त्या द्रव्यादिवैशिष्ट्यात्यन्ताभावोपि लभ्यत इत्याशयेनाह—तेनेति । निषेधः—भेदात्यन्ताभावयोर्लाभः । तत्र श्रुतिं प्रमाणयति-अस्थूलमिति । 'स होवा-

(१) न रूपमरूपमप्रमेयमित्यर्थ इत्यृजुनाऽव्याख्यायानृजुना पथा व्याख्यातम्पदमिति बोध्यम् ।

मित्याद्या 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्' इत्याद्याश्च सर्वानर्थशून्यं परमात्मस्वरूपं प्रतिपादयन्ति । श्रौतस्याप्यर्थस्य न्यायेन निर्णयाय

न्यायरत्नावली ।

बोध्यत इति वक्तुं शक्यते । अस्नेहमित्यादिवाक्यशेषस्य भेदबोधपरत्वे तत्पुरुषत्वेन नपुंसकत्वानुपपत्तेर्बहुव्रीह्यावश्यकत्वेन तत्समभिव्याहारात् अत्यन्ताभावमात्रबोधकत्वम् । अशब्दामित्यादौ तु नपुंसकत्वात् बहुव्रीहित्वनिर्णयेनात्यन्ताभावबोधकत्वमेवेत्याशयेनाह-अशब्दमित्यादि । अप्रमेयत्वात्-चिदभास्यत्वात् ॥६॥

नारायणी ।

चतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ती'ति पूर्वभागः । 'अस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्रमाणमसुखमात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चने'त्युत्तरभागः । श्रुत्यर्थस्तु-स याज्ञवल्क्य उवाच हे गार्गि एतद्वै तदक्षरं यत्त्वं पृष्टवत्यसि 'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चे'त्यादिना अव्याकृतरूपाकाशाधिष्ठानं तत् अव्याकृताधिष्ठानम् एतदक्षरं न क्षरति न क्षीयते वाऽक्षरं शुद्धं ब्रह्म ब्राह्मणाः ब्रह्मविदः अभिवदन्ति कथयन्ति तद्ब्रूहीत्युक्त आह—अस्थूलमित्यादि । अस्थूलं न विद्यते स्थूलं यस्मिन्निति स्थूलभिन्नं स्थूलात्यन्ताभाववद्वेत्यर्थः । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । अदीर्घमित्यनेन परिमाणवतां सामान्यतो निषेधमुक्त्वा विशेषत आह अलोहितमिति—लोहितवत्त्वं पृथिवीतेजसोरिति तयोर्निषेधः । अस्नेहमित्यनेन जलात्मत्वनिषेधः, अच्छायमतम इत्यनेन तमसः, अवायुरिति वायोः, अनाकाशमित्याकाशस्य निषेधः । असङ्गमिति वासनारहितम्, कुतः भोगहेतोरभावादित्याह-अरसमित्यादि । न केवलं भोग्याभावादेव भोगवासनाया अभावः किन्तु भोगकरणाभावादपीत्यभिप्रेत्याह--अचक्षुष्कमिति । संग्रहेण निषेधमाह-न तदिति । तद्ब्रह्म किञ्चन किमपि नाश्नाति न भुङ्क्ते स्वव्यतिरिक्तस्य भोग्यस्याभावात् । अत एव कश्चन कोऽपि जनः तदक्षरं नाश्नाति न भुङ्क्ते । अत्र कारणेऽक्षरे सर्वस्यापि जगत ओतप्रोतस्याभावोक्त्या स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वज्ञापनेन मिथ्याभूतानात्मगुणदोषादिकमधिष्ठानभूतस्य ब्रह्मणो नास्तीति समर्थितम् । श्रुत्यन्तरमाह-अशब्दमिति। न विद्यते शब्दो यस्येत्यशब्दम्, शब्दादिमानेव

क विभिन्न भागों में फैले १५ आरक्षित ों में पिछली गिनती के अनुसार ९०० से अधिक शेर हैं. हर पांच वर्ष बाद की ली शेरों की यह 'जनगणना' -आप में एक अनोखी और दिलचस्प धि है. प्रस्तुत है इस गतिविधि का संपूर्ण साथ ही, इन आरक्षित अरण्यों से अनेक गंभीर और महत्वपूर्ण सवालों पर भी.

न महीने की एक सुबह नागपुर (महाराष्ट्र) के जदीक स्थित, और शेर (जिसे बाघ या व्याघ्र भी है) परियोजना के अंतर्गत संरक्षित, मेलघाट के ३४ वर्षीय सुरेश बिषंधरे ने बिस्तर छोड़ा. बिना चाय पीने के बाद वह घने जंगल की गहराई में एक 'विशेष कार्य' सौंपा गया था. इस कार्य को के लिए वह घने जंगल के उस छिपे और उजाड़ गया, जहां पानी का गड्ढा था. उसके हाथ में कंधे पर झूलते थैले में पानी की बोतल के साथ खाना रखा था. साथ ही उसके पास उस 'विशेष को संपन्न करने के लिए औजारों एक थैला था. यह 'विशेष था? यह 'विशेष कार्य' था शेरों के पंजों के

छाया : के.के. [illegible]

